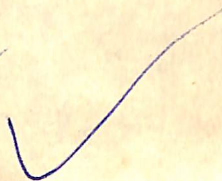


॥ श्रीः ॥

# भारत में संस्कृत की अनिवार्यता क्यों ?


प्रणेता

डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'






चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वा रा ण सी

प्रकाशक :—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० १२९,
वाराणसी–२२१००१



प्रथम संस्करण १९७७

मूल्य ५–००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा विद्याभवन
पो० बा० ६९ ( बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे ),
चौक, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक :—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

# पातनिका

संस्कृत का नाम सुनकर प्रत्येक भारतीय का हृदय श्रद्धाभिभूत हो जाता है। प्रादेशिक सरकारें केन्द्रीय शासन एवं संस्कृत-सेवी विद्वान् संस्कृत के उत्थान के लिए क्या नहीं कर रहे हैं? संस्कृत से सभी प्रभावित हैं, उसे सभी मान रहे हैं पर लगता है दिशा नहीं मिल रही है। प्राचीनकाल में संस्कृत अपनी अभिव्यक्ति-शक्ति के कारण सम्पूर्ण जनजीवन से जुड़ी थी, सम्प्रति इस वैज्ञानिक युग में संस्कृत को जनजीवन से कैसे जोड़ा जाए अथवा जनजीवन संस्कृत से कैसे जुड़े यह एक विचारणीय प्रश्न है।

प्राचीन काल में तो संस्कृत से जनजीवन का प्रत्येक पहलू समुद्भासित होता था। वह भारतीय साहित्य की भाषा थी। जब तक कोई भी साहित्य उसके माध्यम से नहीं लिखा जाता था, वह मान्य नहीं होता था। फलतः जनजीवन को व्याप्त करने वाले प्रत्येक विषय के साहित्य की सृष्टि संस्कृत के माध्यम से निर्बाधगत्या होती रही।

वैदेशिक आक्रमणों के कारण केवल आध्यात्मिक पहलू को छोड़कर जनजीवन के उपयोग में आनेवाले सभी विषय विजेताओं की भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किये जाने लगे। संस्कृत को जनजीवन से अलग करके स्वदेशीयता पर वज्रप्रहार किया गया था। उस प्रहार की चोट से संस्कृत आहत तो नहीं हो पायी पर सीमारेखा से वह आज भी पूर्णतः उन्मुक्त नहीं हो पायी, जनजीवन को व्याप्त नहीं कर पायी। भारतीय जनजीवन में स्वदेशीयता नहीं आ पायी। नूतन विषयों के प्रकटीकरण में संस्कृत की अभिव्यक्ति-शक्ति से जनता लाभ नहीं उठा पाई। प्राचीन ज्ञानधारा के साथ आधुनिक ज्ञानधारा नहीं जुड़ पाई।

जिस भाषा के माध्यम से भारतवर्ष में चिरकाल से सम्पूर्ण विषयों का प्रतिपादन होता रहा है, केवल चार सौ वर्षों के व्यवधान-मात्र के कारण क्या भारतीय जनता उसकी उपयोगिता से, उसकी स्वदेशीयता से और उसके सर्वातिशायी गुणगौरव से वञ्चित रह जाएगी? क्या चार सौ वर्षों की इस खाई को भारतीय जनता वैज्ञानिकों की सहायता से पाट नहीं सकती? स्वदेशीयता को ला नहीं सकती?

भारतीय जनता किस प्रकार संस्कृत की सहायता से स्वदेशीयता ला सकती है, अपना और अपने देश का गुणगौरव कैसे बढ़ा सकती है, भारत को एक-सूत्रता में किस प्रकार बांध सकती है—इन सभी पक्षों पर इस पुस्तिका में यथाशक्ति विचार किया गया है। संस्कृत भारतीय संस्कृति का सर्वस्व है। उसे पुनः प्राप्त करने हेतु भारतीय जनता को अनिवार्यतया संस्कृत की शरण में आने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है।

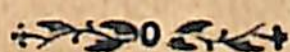
संस्कृतदिवस
श्रावणपूर्णिमा २०३४ वै०
बी० ३/११५, शिवाला
वाराणसी



संस्कृतानुरागी
वागीश शास्त्री

# विषय-क्रम





## संस्कृत भारत की आत्मा है

संस्कृत भारतवर्ष की आत्मा की आवाज है। अधिकांश भारतीयों का यह विश्वास है कि संस्कृत पूजा-पाठ और अध्यात्म की भाषा है। उनकी बात सच है। अध्यात्म का मतलब होता है—आत्मा के अन्दर। संस्कृत आत्मा के अन्दर की आवाज है। भारतीय जन संस्कृत में ही जन्म लेता है, बढ़ता है, बूढ़ा होता है और मरता है। पुंसवन संस्कार संस्कृत में ही होता है, नामकरण, चौल, उपवीत, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार संस्कृत में ही होते हैं। इस प्रकार नेपाल हो या बंगाल, उत्तर हो या दक्षिण बुन्देलखण्ड हो या बघेलखण्ड, मारवाड़ हो या मालवा, गुजरात हो या महाराष्ट्र पंजाब हो या हिमांचल—सम्पूर्ण भारत की आत्मा संस्कृत में और संस्कृत भारत की आत्मा में उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार ईश्वर संपूर्ण संसार में रहता है और सम्पूर्ण संसार ईश्वर में रहता है।

संस्कृत अमर भाषा है क्योंकि वह हजारों वर्षों की वृद्धा होने पर भी आज की किसी भी भाषा से अधिक युवती है, उसमें अधिक लचीला-पन है। वह सैकड़ों पुत्रियों को जन्म देकर भी उनसे अधिक सशक्त है। वह अब भी उनका पोषण कर रही है। फिर भी बूढ़ी नहीं हुई है। उसमें नित्य नये साहित्य रचे जा रहे हैं। उसकी उम्र को आँकने के लिए देशी विदेशी विद्वान् सैकड़ों वर्षों से प्रयत्न करते आ रहे हैं। पर कोई भी विद्वान् ऋग्वेद की रचना के काल को इदमित्थं निश्चित नहीं कर सका। विश्व की सबसे पुरानी भाषा होने पर भी और पालि, प्राकृत इत्यादि सैकड़ों भाषाओं को जन्म देने पर भी वह आज भी वधू है, अमर है। उसकी परवर्ती ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषाओं की सर्जना-शक्ति कुण्ठित हो चुकी है। भारतीय जनों ने देवताओं का प्रत्यक्ष साक्षात्कार भले ही न किया हो पर इस अमृतभाषा की धरती पर जन्म लेने का सौभाग्य उन्हें अवश्य प्राप्त है। इस अमरभाषा की सच्ची सेवा-उपासना करने वाले यदि अमर बन गये तो क्या आश्चर्य ! संस्कृत अमृत है।

इस अमृत की सहायता से सभी धर्मावलम्बियों ने अपने-अपने मतों को अमर बनाने का प्रयत्न किया है। बुद्ध ने अपना उपदेश मगध की जनभाषा पालि में दिया था पर उनके अनुयायियों ने उस उपदेश को अमर बनाने के लिए संस्कृत में लिखा। यद्यपि पालि और प्राकृत भाषाएँ थीं तो उस उस काल की जनभाषाएँ, पर उनका प्रचार और अमृतत्व संस्कृत के विना संभव नहीं था। अतः विद्वानों को उनका व्याकरण संस्कृत में लिखना पड़ा। बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन के स्तोत्रों से लेकर प्रौढ ग्रन्थ तक संस्कृत भाषा में लिखे गये।

देशीभाषा का संबन्ध संस्कृत से नहीं माना जाता, पर हेमचन्द्र ने 'देशीनाममाला' की व्याख्या संस्कृत में ही लिखी। तन्त्रशास्त्र के महार्थमञ्जरी नामक ग्रन्थ की मूल कारिकाएँ महाराष्ट्रीय प्राकृत में लिखी गयीं, पर उनकी विस्तृत व्याख्या संस्कृत में ही की गयी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत का अमृत पान कर अमृतत्व प्राप्ति के लिए संस्कृतेतर भाषाओं के विषयों को भी संस्कृत में लिखा गया। संस्कृत की असाधारण अभिव्यक्ति-शक्ति और अनन्त शब्दावली ने उसे सम्पर्क भाषा बनाया। इसलिए संस्कृत को केवल पूजा-पाठ और धर्मविशेष की भाषा बताना असमीचीन है।

संसार का तात्त्विक ज्ञान न होने के कारण लोग सांसारिक वस्तुओं की हानि से अपना आपा खो बैठते हैं। कितने ही पागल हो जाते हैं। बहुत-से व्यक्ति अर्द्ध-विक्षिप्त होकर भटकते रहते हैं। सम्पूर्ण संसार, विशेषतः भौतिक सुख साधनों को प्रधानता देने वाले देश के नागरिक मानसिक परेशानियों से घिरे रहते हैं। वहाँ प्रतिवर्ष अगणित आत्म-हत्याएँ भी होती रहती हैं। पेरिस का 'एफिल टावर' आत्म-हत्याओं के लिए बदनाम है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक भावुक होती हैं। आत्म-हत्या करने वालों में स्त्रियों की संख्या अधिक होती है। किन्तु भारत में यह संख्या विदेशों की अपेक्षा नगण्य है। इसका कारण है विदेशों के नागरिकों का ऐश्वर्य के चाकचक्य को ही जीवन-दर्शन का अङ्ग बना लेना। उनके सम्मुख जीवन-दर्शन का कोई समाधायक आदर्श नहीं है।

अशिक्षित भारतीय जनता भी जीवन-दर्शन को सुलझे रूप में देख सकती है। पर विदेशों में शिक्षित जनता तक उससे बहुत दूर है।

भारतीय मनीषियों ने जीवन-दर्शन का बहुत सुलझा हुआ तात्त्विक विवेचन किया है। सामान्य धर्म का लक्षण, कर्म मीमांसा और कर्म-विपाक के अनुसार पुनर्जन्म एवं मोक्ष इत्यादि का जैसा स्पष्ट विवेचन संस्कृत के माध्यम से हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं। इस जन्म के कर्मों का प्रभाव अगले जन्म तक पड़ता है और तदनुसार दोनों जन्मों में सुख-दुःख होते हैं। इस जन्म में सम्पूर्ण भौतिक सुखों के विद्यमान होने पर भी अकल्पित दुर्घटनाओं का कारण पिछले जन्मों के कर्मों से जोड़ना भारतीय दर्शन बताता है। इससे मनुष्य में धैर्यहीनता और साहस-हीनता नहीं आती। वह अपने इस जन्म के साथ अगले जन्मों को निष्कंटक बनाने के लिए अच्छे कर्म करता है। पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए भी वह पुण्य-कार्य की ओर प्रवृत्त होता है। भौतिक सम्पत्ति के नष्ट होने पर विचलित नहीं होता। व्रत, उपवास, देवदर्शन, दान-पुण्य इत्यादि कार्य करता रहता है। संस्कृत के भागवत, पुराण, गीता इत्यादि की कथा सुनता है, उनका पारायण करता है। आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को समझता है। पतिव्रताएँ अगले जन्म में भी पति का साथ बना रहने के लिए व्रत करती हैं। कितना सुलझा दृष्टिकोण है! कहाँ तो पाश्चात्त्य जगत् की रमणियों का अपने जीवन-दर्शन के थोथेपन के कारण इस जन्म में एक दिन भी पति के साथ रहने का अविश्वास और कहाँ भारतीय देवियों की जन्म-जन्मान्तरों तक अपने पति के साथ रहने की कामना!

भौतिक सुख-साधनों को प्रधानता देने वाली पाश्चात्त्य सभ्यता के भारत में प्रवेश के साथ ही भारतीय जनता के जीवन-दर्शन का दृष्टि-कोण बदलने लगा। पहले संसार की असारता को ध्यान में रखकर सम्राट् अपने वैभव का त्याग विना किसी हिचक के सानन्द कर डालते थे, पर पाश्चात्त्य सभ्यता से प्रभावित भारतीय व्यक्ति का विश्वास परलोक और पुनर्जन्म से डिगने लगा है। फलतः उसमें धैर्य, क्षमा, मनोवशीकरण,

अस्तेय, पातिव्रत्य, इन्द्रिय-निग्रह, सद्बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोधहीनता—इत्यादि गुणों का दिनों-दिन ह्रास होता जा रहा है। वह वेद, पुराण और शास्त्रों की लम्बी ज्ञान-परम्परा को झुठलाने लगा है, भारतीय जीवन-दर्शन से दूर होता चला जा रहा है। उसमें दूर दृष्टि का अभाव हो गया है। फलतः उसके जीवन में भी पाश्चात्य जगत् के जीवन-दर्शन का नैराश्य, अधीरता, आत्महत्या की भावना, ऊब, मानसिक तनाव तथा विक्षेप आते जा रहे हैं।

यद्यपि श्रीमद्भागवत, गीता और उपनिषदों के अनुवाद अंग्रेजी हिन्दी इत्यादि में हो चुके हैं, जिन्हें पढ़कर विदेशी जन शान्ति-लाभ कर रहे हैं, तथापि उन्हें अनुवादों से सन्तोष नहीं है, वे अब सुधा-रसोपम संस्कृत भाषा का अध्ययन कर उससे अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए व्याकुल हो उठे हैं, भारतीय जीवन-दर्शन में साँस लेने के लिए आतुर हैं। आये दिन विवाह-विच्छेदों से पारिवारिक व्यवस्था उलट-पुलट गयी है। वे भारतीय जीवन दर्शन में इसलिए भी जीना चाहते हैं कि उनके पारिवारिक जीवन में स्थिरता आ जाए, वह मधुर और एकरस हो जाए। भारतवर्ष के समान पति-पत्नियों के सम्बन्ध जन्मजन्मान्तरों तक भले न स्थिर हों, पर इस जन्म भर तो बने ही रहें। यज्ञ के वेदघोष से घर का वातावरण पवित्र बना रहे। गीतापाठ और भागवत-पारायण से मानसिक संतुलन बना रहे।

ईसामसीह की रक्तरंजित प्रतिमा यूरप के गाँव-गाँव में नगर-नगर में, और वन्य प्रदेशों में भी लटकती हुई दिखायी गयी है, पर खेद है कि उसके दर्शन-मात्र से वहाँ की जनता में ऊब और मानसिक असन्तुल की मात्रा कम नहीं हो पा रही है। उन्हें तो एक प्रशस्त जीवन-दर्शन चाहिए। ऐसा जीवन दर्शन चाहिए जो विज्ञान-सम्मत हो। ऐसा जीवन दर्शन चाहिए जिसमें भगवान् का पुत्र नहीं अपितु स्वयं भगवान् अपने भक्तों को विश्वास दिलाएँ, जीवन-मार्ग दिखाएँ। ऐसा जीवन-दर्शन केवल भारत के पास है और वह है निबद्ध देवभाषा संस्कृत में। जीवन को सुखमय, शान्तिपूर्ण मानसिक तनावों से रहित, पागलपन से

रहित बनाने के लिए भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में संस्कृत की अनिवार्यता की अनुभूति हो रही है। इसकी लोकम्पृणता से विश्व परिचित होता जा रहा है।

याज्ञिक विधानों की सहायता के बिना अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिए भारतीय चिन्तकों ने योग जैसी बहुमूल्य मणि खोज निकाली। चित्त को संस्कारों से शून्य बनाकर धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्था तक किस प्रकार पहुँचा जाता है, भौतिक जगत् पर किस प्रकार आधिपत्य प्राप्त किया जाता है—इस प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विवेचन योगशास्त्र में मिलता है। मानवीय विद्युत् के चमत्कारों का यह अद्भुत निदर्शन है। यूरप यन्त्रों का ही चमत्कार कर सका, अपने अन्दर झाँकने तथा अन्दर की असीम शक्ति को प्रकट करने की बात उसकी चिन्तन शक्ति की परिधि से बाहर थी। फलतः वह केवल भौतिक ऐश्वर्य को ही बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर सका। किन्तु भौतिक ऐश्वर्य इन्द्रियातीत आत्मिक सुख और शान्ति प्रदान नहीं कर सकता।

आज संस्कृत का थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति भी संस्कृत के इस अखण्ड भण्डार के बल पर यूरोपीय प्रज्ञा को चकाचौंध कर रहे हैं। उन्होंने केवल जप-ध्यान सिखाकर सरलतापूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि अल्पकालीन ध्यान के दैनिक अभ्यास से यान्त्रिक युग की यन्त्रणाओं से पीड़ित मनुष्य मानसिक तनावों से मुक्त हो जाता है, उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है। वह शान्ति का अनुभव करने लगता है। संस्कृत के प्रत्येक शब्द के उच्चारण से मानव मन पर कितना अच्छा प्रभाव पड़ता है! यूरोपीय वैज्ञानिकों ने मानसिक तनावों से युक्त मनुष्यों का यन्त्रों के द्वारा परीक्षण किया। संस्कृत के कुछ शब्दों का उच्चारण करते हुए ध्यान करने वालों का पुनः परीक्षण किया गया। अद्भुत परिवर्तन मिला। फिर क्या था! यूरप इस ओर झुकने लगा। यह है संस्कृत विद्या का चमत्कार! अपने कल्याण के लिए विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को संस्कृत जानना अनिवार्य है।

संस्कृत की इस ज्ञानधारा को आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्न अपेक्षित हैं। संस्कृत की इस योगसूत्र शैली में पाश्चात्त्य मनोविज्ञान का समाहरण युगानुरूप होगा और अध्ययन-अध्यापन को एक नई दिशा देगा।

पश्चिमी मानव ने विद्युत् का आविष्कार कर लिया। उसके द्वारा वह अद्‌भुत चमत्कार दिखा रहा है। पर ईश्वर-प्रदत्त मानवीय विद्युत् के चमत्कार दिखाने में वह कृतकार्य नहीं हो सका। इसके चमत्कार तो भारतीय योगी और तान्त्रिक हजारों वर्षों से दिखाते चले आ रहे हैं। योग के द्वारा बिखरी विद्युत् को एकत्र कर शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में उस विद्युत् का प्रयोग करना पश्चिमी व्यक्तियों को अब भी रहस्य बना हुआ है। मूर्धा की ज्योति में उस विद्युत् को लगा देने से सिद्धों के दर्शन प्राप्त कर लेना, संस्कारों का साक्षात्कार करने से पूर्व-जन्म ज्ञात कर लेना, सम्पूर्ण प्राणियों की भाषा जान लेना, शरीर और आकाश में क्या सम्बन्ध है ?—इस पर धारणा ध्यान और समाधि कर लेने से हलकी रुई के समान शरीर का हो जाना और साधक को आकाश-गमन की शक्ति का प्राप्त हो जाना! यह है अध्यात्म शक्ति की भौतिक शक्ति पर विजय। प्रज्ञा का ऋतम्भरा बन जाना, योग के आठों अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय हो जाना तथा ज्ञान का प्रकाश प्रकट होना। यदि किसी के जीवन में अहिंसा की ठीक-ठीक प्रतिष्ठा हो जाए, तो उसकी संनिधि में हिंस्र जन्तु भी वैर भूल जाते हैं। अपरिग्रह की स्थिरता हो जाए तो पूर्व जन्म और इस जन्म का ज्ञान हो जाएगा। पवित्रता का ठीक-ठीक पालन हो जाए तो स्वयं अपने से घृणा हो जाएगी और दूसरों के साथ संसर्ग की इच्छा जाती रहेगी। इसके अतिरिक्त पवित्रता की परिपक्वता के अन्य ये लाभ भी हैं—१. सत्त्व की शुद्धि, २. सौमनस्य ( अदुष्ट मन होना ), ३. एकाग्रता, ४. इन्द्रियजय तथा ५. आत्मदर्शन की योग्यता। अशुद्धि के नष्ट होने से शरीर और इन्द्रियों में सिद्धि का प्रवेश होता है। ईश्वर के ध्यान से समाधि की सिद्धि होती है।

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश ( ज्ञान ) पर पड़ा पर्दा हट जाता

है। शरीर और रूप में संयम ( धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास ) कर लेने पर उनकी ग्राह्य शक्ति के स्तम्भ होने के कारण चक्षु के प्रकाश का प्रकटीकरण न होने से अन्तर्धान की शक्ति प्राप्त हो जाती है। प्रवृत्ति और प्रकाश के न्यास से सूक्ष्म, आड़ में रखे हुए तथा दूरवर्ती पदार्थ का ज्ञान हो जाता है।

सूर्य में संयम करने से सम्पूर्ण भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। चन्द्रमा में संयम करने से तारा-व्यूह का ज्ञान होता है। ध्रुव नक्षत्र में संयम करने से उसकी गति का ज्ञान होता है। नाभि-चक्र में संयम करने से शारीरिक व्यूह का ज्ञान हो जाता है। प्रातिभ शक्ति आ जाने से सब कुछ सफलता मिल जाती है। परकाय प्रवेश, जल, पंक इत्यादि पर संचरण की योग्यता आ जाती है। कान दिव्य बन जाते हैं। अणिमा इत्यादि आठ सिद्धियों को प्राप्ति भौतिक सिद्धियों का अन्तिम सोपान है। मन्त्र सिद्धि के चमत्कार भिन्न हैं। तान्त्रिक सिद्धियाँ यौगिक सिद्धियों से विलक्षण हैं। मन को वशंगत बनाकर पुनः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना—राजयोग है। बौद्ध दर्शन में 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिद्वयम्' ग्रन्थ में योगदर्शन के विचार को आगे बढ़ाया गया है।

इन्द्रियों को हठपूर्वक दबाकर पुनः मन को एकाग्र करना—हठयोग है। इसमें नेती धौती, बस्ती, नौली इत्यादि अनेक क्रियाओं से शारीरिक विकारों को दूर किया जाता है। समय-समय पर हठयोग के अधिकारी विद्वानों ने प्रयोगों द्वारा जिन नूतन अनुभवों को प्राप्त किया, उन्हें प्रचारित करने के लिए संस्कृत वाङ्मय की रचना की। हठयोग की क्रियाओं से असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। शरीर नीरोग और वासना-शून्य होकर साधना-योग्य बन जाता है। इस विज्ञान को और समुन्नत करने की आवश्यता है। संस्कृत भाषा की ही यह विशिष्टता है कि अनपेक्षित उक्तियों से दूर होकर किसी भी विषय को संक्षेप में ओर स्पष्टतापूर्वक प्रकट कर देती है।

हठयोग में कुण्डलिनी को जगाना एक ऐसी क्रिया है, जो परतत्त्व तक पहुँचा देती है। मूलाधार में परा वाणी का निवास है। कुण्डलिनी का

निवास भी मूलाधार में बताया गया है। वह ब्रह्म के मुख को अपने मुख से ढँककर अपनी कुण्डली से उसे लपेटे रहती है। वह परदेवता है। इसके विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'तन्त्रसार' 'हठयोग-दीपिका' इत्यादि मूल संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ना आवश्यक है। संस्कृत विषयों का स्वयं पढ़ने से स्पष्ट न होना स्वाभाविक है क्योंकि हजारों वर्षों की परम्परा को स्वयं ग्रन्थ पढ़कर नहीं समझा जा सकता। उसे समझने और फिर तदनुसार आचरण में उतारने के लिए योग्य गुरु की संनिधि आवश्यक है।

स्थूलतावादी यदि चाहे कि शरीर का विच्छेद कर मन, आत्मा, बुद्धि, यौगिक षट्चक्र ब्रह्मरन्ध्र और कुण्डलिनी इत्यादि के स्थानों का पता लगा ले, तो यह असंभावित है। इनके ज्ञान के लिए अभी यन्त्र नहीं बन पाये हैं। भौतिक साधनों और इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न सुख स्थायी नहीं है, क्योंकि भौतिक साधन और इन्द्रियाँ स्वयं स्थायी नहीं हैं। अतः इन्द्रियातीत आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए योग-शास्त्र की अवतारणा हुई है। इस सुख को धन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वयं साधना करनी पड़ती है। इसको प्राप्त करने की कुंजी संस्कृत के पास है। संस्कृत के अध्ययन की अनिवार्यता के विना मनुष्य इस ज्ञानामृत से वञ्चित रह जाता है। इस ज्ञानामृत की क्रमिक प्राप्ति के लिए आज यह आवश्यक है कि कुण्डलिनी आदि की साधना का शरीर पर कितना प्रभाव पड़ रहा है—इसका परीक्षण आधुनिक विज्ञान की सहायता से होता रहे।

विश्व का ऐसा कोई साहित्य न होगा, जिसमें कविता की सर्जना न हुई हो। पर आध्यात्मिकता की दृष्टि से मानसिक शान्ति के लिए कोई उनका पाठ नहीं करता। संस्कृत की वह महिमा है कि उसके स्तोत्र-साहित्य का पाठ या श्रवण चिरकाल से मानसिक शान्ति के लिए होता आया है। इसकी लोकोपयोगिता किसी से छिपी नहीं है। मनोविकृतियों को दूर करने का यह शीर्षण्य उपाय है।

यद्यपि सन्त तुलसीदास ने 'हनुमान् चालीसा' 'हनुमान् बाहुक' जैसे कुछ स्तोत्रों की रचना हिन्दी में की है और हिन्दी जनता में ये स्तोत्र प्राप्त प्रचार भी हैं, तथापि तुलसीदास की अधिकांश स्तोत्रावलियाँ संस्कृत के नाम पर ही प्रायः प्रचलित हैं। भगवान् राम और हनुमान् जी की हिन्दी स्तुतियों को छोड़कर अन्य देव-स्तुतियाँ संस्कृतबहुल भाषा में निबद्ध हैं। रामचरित मानस के प्रारम्भिक स्तुतिपरक पद्यों का पारायण जनता संस्कृत के श्लोकों के रूप में ही करती है। अहिन्दीभाषी बंगाल, उड़ीसा, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र, कश्मीर इत्यादि प्रान्तों के कवियों ने संस्कृत स्तोत्रों का पारायण करते करते सामान्य जनता के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में भी रचनाएँ की हैं। पर प्रेरक स्रोत संस्कृत से ही प्राप्त होता है और भक्त या विद्वान् ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी उत्स की ओर बढ़ता है। संस्कृत अमृत-निर्झरिणी है। उससे कितनी ही कुल्याओं का निर्माण हुआ है, जो बिगड़ती-बनती रहती हैं।

वैदिक सूक्तों के अनन्तर पौराणिक स्तोत्रों का प्राधान्य है। शङ्कराचार्य से लेकर सभी आचार्यों ने स्तोत्र-साहित्य को समृद्ध किया है। यह आध्यात्मिकता की तुष्टि करने के साथ-साथ संगीत का भी आनन्द प्रदान करता है। इनमें से कुछ की अधिक लोकोपयोगिता को दृष्टिगत रखकर ग्रामोफोन रिकार्ड कम्पनियों ने सैकड़ों रिकार्ड बनवा लिये हैं। उनमें शङ्कराचार्य के 'भज गोविन्दम्, सामवेदम्, तैत्तिरीय उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, पुरुषसूक्तम्, नवग्रहस्तोत्रम्, विष्णुसहस्रनाम, आनन्दलहरी, अच्युतस्तोत्रम्, लक्ष्मीस्तोत्रम्, श्रीसूक्तम्, ललितासहस्रनाम, अन्नपूर्णाष्टकम्, शिवताण्डवस्तोत्रम्, सौन्दर्यलहरी—इत्यादि रिकार्ड मुख्य हैं।

विश्व को शान्ति प्रदान करनेवाली भक्ति की अजस्र अमृतमयी धारा संस्कृत में ही प्रवाहित है। संस्कृत वाङ्मय में विश्वबन्धुत्व-भावना की प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। प्रत्येक परिवार, समाज, ग्राम, नगर, प्रदेश, राष्ट्र तथा विश्व में शान्ति स्थापित करने एवं विश्वबन्धुत्व की भावना जागरित करने के लिए संस्कृत पढ़ना विश्व के प्रत्येक नागरिक का अनिवार्य कर्तव्य है। वैदिक ज्ञान की धारा में अवगाहन करके

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह 'स्व' को संस्कृत कर ले।

योगशास्त्र में 'यथाभिमतध्यानाद्, वा = 'किसी भी व्यक्ति को जिस किसी देवता का ध्यान अभिमत हो, वह ध्यान के द्वारा योग-साधना कर सकता है' ऐसा कहकर करुणासिन्धु महामुनि पतंजलि ने योगसाधना का द्वार सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों के लिए खोल दिया है। इस प्रकार चित्त-शान्ति, आत्मिक आनन्दोपलब्धि और मानसिक तनाव को दूर करने के लिए प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह संस्कृत भाषा का अध्ययन करे। वैदिक तथा पौराणिक संस्कृत वाङ्मय में विश्वजनीन तत्त्व भरे पड़े हैं।

मानव मात्र को किस धर्म का पालन करना चाहिए जिससे उसका कल्याण हो—इसके विषय में प्रभूत सामग्री संस्कृत वाङ्मय में विकीर्ण पड़ी है। ईर्ष्या, भय क्रोध, लोभ इत्यादि उद्वेगों से मुक्त होने के विविध उपाय संस्कृत वाङ्मय में संनिहित हैं। बौद्धों की करुणा और जैनों की अहिंसा संस्कृत वाङ्मय में निबद्ध है। इस प्रकार विश्वजनीन दुःखी मानवता को उबारने के लिए, उसे आत्मिक दृष्टि से स्वस्थ रखने के लिए संस्कृत में निबद्ध आध्यात्मिक ज्ञान अमृत के समान गुणकारी है। संस्कृत का सूक्ष्मदर्शन मानव-सभ्यता को बहुत बड़ी देन है। संस्कृत की इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण देन है—जीवमात्र के प्रति प्रेम और उच्च नैतिक सिद्धान्त की भावना।

आत्मा को स्वस्थ रखने में ही अन्य अंगों का कल्याण है। आज भारत की आत्मा अलग-थलग पड़ी है। बाहरी कोलाहल से उसकी आवाज दब गयी है। सब भारतीयों का कर्तव्य है कि वे भारत की आत्मा के उद्धारकर्म में इसी क्षण से लग जाएँ।

## संस्कृत भारत का प्राण है

संस्कृत भारत का प्राण भी है। भारत का सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान संस्कृत में निबद्ध है। भारतीय परम्परा में वेद सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान के आकर माने गये हैं। वेद का मतलब ही है—ज्ञान या विद्या। यद्यपि संस्कृत वाङ्मय में बहुसंख्यक विद्याओं का वर्णन मिलता है, तथापि मुख्यतः चौदह या अट्ठारह विद्याएँ मानी गयी हैं—चार वेद, चार उपवेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र। १. ऋग्वेदसंहिता, २. यजुर्वेदसंहिता, ३. सामवेदसंहिता तथा अथर्ववेदसंहिता—ये चार वेद ज्ञानों के आकर हैं। ऋग्वेद की शाखाओं में सम्प्रति दो ही शाखाएँ मिलती हैं—शाकल और बाष्कल।

यजुर्वेद की दो संहिताएँ हैं—शुक्लयजुर्वेद संहिता और कृष्णयजुर्वेद संहिता। सामवेद की एक हजार शाखाओं में से सम्प्रति तीन शाखाएँ ही मिलती हैं-राणायनीय ( महाराष्ट्र में प्रचरित ), कौथुम ( गुजरात में प्रचलित ) तथा जैमिनीय शाखा ( केरल में प्राप्तप्रचार )। इन तीनों संहिताओं की गान-पद्धतियाँ पृथक् पृथक् हैं। अतः इनके गान-ग्रन्थ भी अलग अलग हैं। अथर्ववेद संहिता की शाखाओं में से सम्प्रति केवल शौनकसंहिता ही उपलब्ध है। ऋग्वेद का उपवेद—आयुर्वेद ( चरण-व्यूह के मतानुसार ), यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद—गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद का उपवेद है—अर्थशास्त्र। प्रत्येक वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद् ग्रन्थ, कल्प ग्रन्थ तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थ अलग अलग हैं। इस प्रकार केवल वैदिक वाङ्मय की ही समानता करने वाला विश्व का कोई प्राचीन साहित्य नहीं है।

जन-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित तथा व्याप्त करने वाला शास्त्र है—'आयुर्वेद'। संस्कृत भाषा में निबद्ध आयुर्वेद हजारों वर्षों से भारतीय जनता के प्राणों की रक्षा करता आ रहा है। इस शास्त्र के

साथ 'वेद' शब्द जुटा है। अन्य किसी परम्परागत शास्त्र के साथ 'वेद' शब्द संबद्ध नहीं है। इसीसे इसकी महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। आयुर्वेद के ज्ञाताओं को वैद्य कहा जाता रहा है। उनसे पार्थक्य दिखाने के लिए वेद की संहिताओं के ज्ञाता वैदिक शब्द से संबोधित होने लगे।

आयुर्वेद, तथा ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाताओं के उपकारों से भारतीय जनता सदा उपकृत होती रही। इसके ज्ञाता जनता की निःशुल्क या उनकी श्रद्धा के अनुरूप दक्षिणा लेकर सेवा करते रहे, युगानुरूप नूतन चिकित्सा-विधियों का इस शास्त्र में समावेश करके इसे आधुनिकतम बनाते रहे।

अंग्रेजी शासन के पूर्व तक आयुर्वेद में नूतन औषधियों और चिकित्सा-विधियों के संनिवेश संस्कृत के माध्यम से होते रहे। यूनानी भाषा के शब्दों को हेरफेर कर पचा लिया जाता रहा। तुलनीय—उशवा, हपुषा, पोदीना, जूफा, सिनकोना, विही, आलूबोखारा, रुमीमस्तगी, खत्मी, खूबकला, तोदरी, रसोन, पारसीकयवानी, ममीरा, उन्नवा इत्यादि द्रव्य। नाड़ी विज्ञान के उत्तरोत्तर क्रमिक संनिवेश का पर्यालोचन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यों तथा चिकित्सा-विधियों के मिश्रण का भी विश्लेषण द्रष्टव्य है।

भावप्रकाशकार भावमिश्र ने 'महागोधूम' को पश्चिम देश से आया हुआ बताया—'महागोधूम इत्याख्यः पश्चाद् देशात् समागतः'। राजनिर्घण्टु में मैदा के लिए 'समिता' शब्द का प्रयोग किया गया है—'गोधूमा धवला धौताःकुट्टिताः शोषितास्तथा।···समिता स्मृताः।'। 'समिता' शब्द प्रथम शताब्दी में रचित बौद्ध संप्रदाय के 'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थ से पूर्व प्रयुक्त नहीं हुआ है। कोशकारों ने इसकी व्युत्पत्ति की है—सम्+इता। किन्तु यह शब्द यूनानी शब्द 'सेमिदालिस्' शब्द के लिस्' प्रत्यय को लुप्त कर समिता के रूप में संस्कृत के माध्यम से पचा लिया गया था।

द्रव्यों और चिकित्सा-विधियों में इस प्रकार के अनेक मिश्रण देखे जा सकते हैं। भावप्रकाशकार ने प्राकृत शब्दों का भी अपने संस्कृत

ग्रन्थ में समावेश किया है। उन्होंने वेढमिका ( <वेष्टमिका ) नामक रोटी का उल्लेख किया है। रोटिका शब्द भी देशीभाषा का है, संस्कृत का नहीं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वामन ने 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' नामक अपने ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि देशी भाषा के उस शब्द को संस्कृत में बिना किसी हिचक के ले लेना चाहिए जिसका लोक में अतिप्रचार हो—'अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम्' ( ५, १, १, ३ )। वामन के बहुत पूर्व संस्कृत में इस प्रकार के शब्दों के ग्रहण की परम्परा प्रचलित थी। संस्कृतभाषा के 'उटज' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के पुत्र श्री भानुजिदीक्षित अमरकोष की टीका में लिखते हैं कि 'उट' शब्द देशीभाषा का है। इसका अर्थ है—तृणविशेष। इस उट शब्द में संस्कृत के जन् धातु से ड प्रत्यय लगाकर उटज शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार संस्कृत के माध्यम से आयुर्वेद, साहित्य-शास्त्र इत्यादि में नूतन ज्ञान विज्ञान का समावेश किया गया।

उक्त मिश्रणों की प्रक्रिया को ध्यान में रखे बिना आज आयुर्वेद शास्त्र में गतिरोध हो गया है। नूतन चिकित्सा-पद्धतियों का उसमें प्राचीन-काल के समान संनिवेश रुद्ध हो गया। फलतः वह जनजीवन से दूर होने लगा। वैदेशिक चिकित्सापद्धति जनजीवन पर हावी होने लगी और उसी के साथ साथ विदेशी भाषा तथा संस्कृति का प्रभाव जनता पर छाने लगा। भारतीय संस्कृति की नाव डगमगाने लगी। भारतीय वैद्यों का यश पाश्चात्त्य चिकित्सापद्धतिवेत्ताओं की स्पर्धा में मन्द पड़ने लगा। गम्भीर रोगों की चिकित्सा के लिए भारतीय जनता ने डाक्टरों का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया और यह ठीक भी था। भारतीयोंने संस्कृतकी उपेक्षा की, 'स्व' की अवहेलना की, तो संस्कृतज्ञ बनते कहाँ से जो चिकित्सा-विषयक आधुनिकतम ज्ञान को पचाकर अपने शास्त्र में समाविष्ट कर सकते! आयुर्वेदीय चिकित्सा कतिपय क्षेत्रों में पिछड़ी हुई है। अद्यतन ज्ञान की धारा से उन्हें आप्लावित करने की आवश्यकता है। शल्य शालाक्य क्षेत्र में प्राचीन भारत के चिकित्सकों का ज्ञान

यद्यपि बढ़ा हुआ था, तथापि आज वैदेशिक चिकित्सा-पद्धति की तुलना में वह सर्वथा वामन हो गया है। इस पद्धति को पचाकर अपनी प्रणाली के संबद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों में अथवा उनके परिशिष्टों में संस्कृत भाषा के माध्यम से इस प्रकार गूँथना चाहिए कि यह खाई पट जाए। आधुनिकतम ज्ञान के असमावेश के कारण वैद्य जगत् हीनभावना से ग्रस्त हो गया है तथा चोरी-छिपे पाश्चात्त्य चिकित्सा-विधियों का आश्रय लेता रहता है। मनोविज्ञान का संनिवेश किये बिना भी योगशास्त्र अपने में पूर्ण है और प्राचीनकाल के समान आज भी वह विदेशियों का आकर्षण-केन्द्र बना है। आयुर्वेद की स्थिति योगशास्त्र के समान नहीं है। उसकी प्रतिद्वन्दी चिकित्सा-पद्धति उसके सामने स्पर्धा के लिए अड़ी खड़ी है। अतः उसके आगे बढ़कर लोकसेवा के लिए आयुर्वेद में आधुनिकतम ज्ञान का संनिवेश अत्यावश्यक हो गया है।

संस्कृत भाषा के माध्यम के बिना यदि आयुर्वेद जगत् में मिश्र-पद्धति को क्रोडीकृत किया जाता है, तो आगे चलकर पाश्चात्त्य चिकित्सा-पद्धति अमरवेल की तरह इस पर पूर्ण रूप से छा जाएगी और इसका सर्वनाश कर स्वयं जम जाएगी। मिश्रित आयुर्वेदीय शिक्षा जहाँ-जहाँ प्रारम्भ की गयी, वहाँ-वहाँ यही स्थिति देखने में आयी। मिश्रित पद्धति से पढ़े व्यक्ति वैद्य कम पर डाक्टर अधिक दिखते हैं। अतः आयुर्वेद में अनुपलब्ध नूतन ज्ञान-विज्ञान को इस प्रकार गूँथा जाए कि यह उसी का अंग लगे। चौखम्बा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित माधवनिदान में श्रीब्रह्मशंकर मिश्र ने परिशिष्ट के रूप में नूतन रोगों का वर्णन छन्दोबद्ध विधि से मूलग्रन्थ के अनुरूप करके एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

आयुर्वेद की साख पहले से ही जमी हुई है। अतः उसे जमाने के लिए, उसकी गरिमा बताने के लिए हमें प्रयत्न भी नहीं करना है। उद्भिद्, जन्तु, रसायन, भौतिक विज्ञान इत्यादि विषयों पर संस्कृत माध्यम से स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखाने होंगे अथवा उक्त विषयों पर परिशिष्ट लिखवाकर आयुर्वेदीय ग्रन्थों में जोड़ने होंगे।

विकसित पाश्चात्त्य चिकित्सा-पद्धति को भारतीय प्रक्रिया से आत्म-

सात् करना मात्र हमारी इतिकर्तव्यता का द्योतक नहीं होगा। किन्तु भारत की जलवायु में पनपने वाली वनस्पतियों तथा द्रव्यों के गुणों का परीक्षण करना होगा। परीक्षित द्रव्यों के प्रयोग की विधियों का आविष्कार नूतन तथा प्राचीन रोगों के शमनार्थ करना होगा। आयुर्वेद के आचार्यों ने रोगों का निदान एवं द्रव्यगुणों का विवेचन किया है। रोगों के वर्ग बनाकर अद्यतन जनता की सेवा के निमित्त उसे अधिकाधिक सुविधाएँ देने के लिए रोगप्रशमनार्थ नये सिरे से द्रव्यगुणों का अनुसन्धान करके उपलब्धियों को कड़ी के रूप में प्राचीन परम्परा की शृङ्खला में जोड़ना होगा। फलतः आयुर्वेद अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर अपने विज्ञानत्व को सिद्ध कर सके। अनुसन्धान द्वारा नयी-नयी विधियों का आविष्कार करके, चीन आदि देशों में प्रचलित प्राचीन चिकित्सा-विधियों का तुलनात्मक अध्ययन करके आगे बढ़ते रहना तथा जनता को अधिकाधिक सुविधाएँ उपनत करते रहना ही आयुर्वेदशास्त्र की वैज्ञानिकता का मापदण्ड होगा।

आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति पर हमारे ऋषियों और आचार्यों ने अपने अनुभव-प्रयोगों के आधार पर विविध ग्रन्थों की रचना की थी। दुर्दैवात् अनेक ग्रन्थ या तो काल के थपेड़ों ने नष्ट कर दिये अथवा अज्ञात स्थानों में और पुस्तकालयों के वेष्टनों में बँधे पड़े हैं। ऐसे ग्रन्थों के अस्तित्व का परिचय हमें उपलब्ध ग्रन्थों या उनकी व्याख्याओं में उनके नामोल्लेख अथवा उद्धरणों से मिलता है। ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों के हस्तलेखों का अन्वेषण करके आधुनिक संपादन-प्रक्रिया का आश्रय लेकर प्रकाशन करना इस दिशा का प्रथम कार्य होगा। इस प्रकार के प्रकाशित ग्रन्थों पर अनुसन्धान कराने होंगे। पूर्ववर्ती ग्रन्थों में अप्राप्त उन द्रव्यगुणों, चिकित्सा-विधियों एवं रोगनिदानों पर प्रयोग कराने होंगे जिनका उल्लेख इन ग्रन्थों में हुआ है। चरक, सुश्रुत आदि उपलब्ध ग्रन्थों पर भी उक्त दिशा में कार्य कराने होंगे। इन सभी अनुसन्धानों का माध्यम संस्कृत भाषा होगी। इसके माध्यम के बिना आयुर्वेदीय पद्धति को विकसित करने के ये सभी प्रयत्न निष्फल होंगे क्योंकि संस्कृत के बिना

ये सब अनुसन्धान आयुर्वेदशास्त्र की शृङ्खला में परिगणित नहीं हो पाएँगे।

उक्त सम्पूर्ण कार्यों की रूपरेखा के साथ ही साथ आयुर्वेदशास्त्र में अनुसन्धान-पद्धति के स्वरूप पर चर्चाएँ, संगोष्ठियाँ आयोजित की जानी चाहिए। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक विधियों के अनुसन्धान का दिग्दर्शन कराने के लिए लेख और ग्रन्थ लिखे जाने चाहिए।

इस प्रकार के बहुत से कार्य योग्य अनुसन्धाताओं से कराये जाने चाहिए। परिणामतः शुद्ध और मिश्रित आयुर्वेद के विवाद को लेकर उठाये गये आन्दोलनों का अन्त होगा। अपनी प्राचीन आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति के प्रति डगमगाती श्रद्धा वाली जनता इसकी वट-वृक्षच्छाया में आकर पुनः विश्राम ले सकेगी। पाश्चात्त्य चिकित्सा-पद्धति भारत में पैर तोड़कर नहीं बैठ सकेगी। आयुर्वेद के विद्वानों को जनता की सेवा करने के लिए अधिकाधिक अवसर मिलेगा।

जनता को अधिकाधिक लाभान्वित करने के उद्देश्य से अपनी जाति धर्म इत्यादि की सीमाओं को तोड़कर विज्ञान अन्यत्र विकसित ज्ञान को अपने में समाहित कर अधुनातन बनता है और तभी वह जनता-जनार्दन की अधिकाधिक सेवा कर सकता है। इसी दृष्टि से संस्कृत में निबद्ध आयुर्वेद को विदेशी बगदाद में ले गये, चरक और सुश्रुत ग्रन्थों का अनुवाद कराया गया तथा नई जानकारी से वहाँ के चिकित्सकों को लाभ उठाने का अवसर मिला। संस्कृतज्ञ इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ नहीं थे। चिकित्सा की नई-से-नई विधि को प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे और उसे अपनी पद्धति से जाँच-परख कर आयुर्वेद में समाविष्ट करते थे। इस प्रकार संस्कृतज्ञों ने १४ वीं शताब्दी तक आयुर्वेद को पूर्ण तथा अधुनातन बनाकर रखा। फलतः संसार की कोई भी चिकित्सापद्धति भारत में हावी नहीं हो सकी। मुसलमानों के आक्रमण के अनन्तर यूनानी चिकित्सापद्धति भी यद्यपि उसके समक्ष आयी, तथापि आयुर्वेद के सामने वह भारतीय जनता को प्रभावित नहीं कर सकी।

चौदहवीं शताब्दी के अनन्तर वैदेशिक आक्रमणों के कारण भारत में अधिक उथल-पुथल मची। बहुत-से भारतीयों ने मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया। वे संस्कृत में निबद्ध स्वदेशी चिकित्सापद्धति को विकसित करने के प्रति उदासीन हो गये। प्रोत्साहन के अभाव के कारण भारतीय भी आलस्य के गर्त में निमग्न दिन प्रतिदिन विकसित ज्ञान-विज्ञान को अपने शास्त्रों में समाविष्ट नहीं करते गये। फिर भी भाव मिश्र ने सोलहवीं शताब्दी में 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ लिख कर उस समय प्रचलित चिकित्सा की नई जानकारी को आयुर्वेद में जोड़ने का श्लाघ्य कार्य किया। किन्तु एक प्रयास से जितनी सफलता मिल सकती थी, मिली। भारतीय आलस्य के कारण अपने शास्त्र को नूतन ज्ञान-विज्ञान से भरते रहकर आधुनिकतम नहीं बनाते रहे। फलतः ४०० वर्षों के विकसित ज्ञान के अभाव के कारण विदेशी चिकित्सा-पद्धति उसी के घर में उस पर हावी हो गयी।

यह ठीक है कि बहुत से रोगों के निदान और चिकित्सा में पाश्चात्त्य चिकित्सा-पद्धति उसके सामने नहीं ठहर सकती। उसका श्रेय सैकड़ों वर्षों पूर्व ऐसे संस्कृतज्ञ विद्वानों को है, जिन्होंने तात्कालिक ज्ञान को संस्कृत के माध्यम से आयुर्वेद ग्रन्थों में पचा लिया था। यदि विदेशी चिकित्सा-पद्धति के पास उस प्रकार का कोई निदान नहीं है, तो केवल इतने मात्र से आयुर्वेदज्ञों को प्रसन्न होकर संतोष कर लेना उचित नहीं है। आवश्यक तो यह है कि अपनी न्यूनताओं को देखकर आयुर्वेद में अविद्यमान किन्तु सम्प्रति विकसित ज्ञान को अपनी प्राचीन प्रक्रिया के द्वारा खपा लेना चाहिए ताकि भारतीय स्वदेशी चिकित्सा-पद्धति को बाह्य चिकित्सा-पद्धति के आगे झुकना न पड़े, अपमानित न होना पड़े। नवीन ज्ञान की स्वदेशीयता तभी सुरक्षित रहेगी, जब उसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों की शृङ्खला से जोड़ दिया जाए। सम्पूर्ण आयुर्वेदिक ग्रन्थ-शृङ्खला संस्कृत के लोहसार से बनी हुई है। नूतन कड़ी को भी उसी से बनाकर लम्बी शृङ्खला में जोड़ना होगा। संस्कृत भाषा गङ्गा के पवित्र जल के समान है। उसमें मिली अन्य

धाराओं को वह आत्मसात् कर लेती है और अपनी पवित्रता की मान्यता दिलाती है।

भारत में अब भी ऐसी जड़ी-बूटियाँ हैं, जिनके प्रयोग से असाध्य रोग निर्मूल हो जाते हैं। ग्रामों के वृद्ध उनका प्रयोग अब भी जानते हैं। वैद्यों का कर्तव्य है कि वे क्षेत्रीय कार्य ( फील्ड वर्क ) करें। औषधियों को प्रयोग की कसौटी पर कसें और लोकप्रचलित औषधियों के नामों को उनके गुणों के साथ श्लोकबद्ध कर लें। सम्प्रति मधुमेह रोग असाध्य माना जा रहा है। पर आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि इसकी औषध भारत में है। उसका नाम है 'जलजमनी'। इसकी विशेषता है कि इस लता के पत्तों का रस जल में डालने पर घी की तरह जम जाता है। इसके सेवन करने से मधुमेह निर्मूल हो जाता है। दो वर्ष पूर्व मैं भी स्वयं मधुमेह रोग से ग्रस्त हो गया था। मधुमेह रोग की घोषणा करने वाले थे डॉ० चन्द्रमोहन वाजपेयी। उन्होंने यह भी कहा कि यह निर्मूल कभी नहीं होता। एक बार हम दोनों श्रीकालीशंकर त्रिपाठी ( डी० आई० जी० ) के घर भोजन करने बैठे, तो बोले—'थोड़ा भात ले सकते हैं, पर अधिक हानि करेगा। यह रोग निर्मूल नहीं होता।' किन्तु १४ दिनों के अनन्तर परीक्षण करने पर उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब मधुमेह को उन्होंने निर्मूल पाया, तो चकित हो गये, बोले—'यह तो संभव ही नहीं'। एक मास पश्चात् फिर परीक्षण कराया। मधुमेह निर्मूल हो गया। आज मैं दो वर्षों से भात, मधुरान्न आदि यथेष्ट खाता हूँ। आप जानते हैं मैं संस्कृत की कृपा से बच गया। उसमें एक शब्द ऐसा ही मिल गया। इसी प्रकार दमा, कुष्ठ इत्यादि रोगों की प्रभूत औषधियाँ ग्रामों के वृद्धों को ज्ञात हैं। पर टैबलेट और इंजेक्शन छाप ऐलोपैथी के प्रभाव से बहुत-से रोगों की आयुर्वेदिक औषधियों के ज्ञानका लोप होता जा रहा है। ग्रामीण-परम्परा नष्ट होती जा रही है। जड़ी बूटियों के नाम और गुणों को आधुनिक ग्रामीण भूलते जा रहे हैं। वे अपनी परम्परा से हट रहे हैं। यदि चार शताब्दियों पूर्व इस बिखरे ज्ञान को संस्कृत में पचा लिया होता, तो आज आयुर्वेद की स्थिति कुछ

और ही होती। अब भी आयुर्वेदज्ञों को चेत जाना चाहिए और अपनी विद्या को अधिकाधिक लोकोपयोगी बनाने के लिए लोकोपकार की भावना से जुट जाना चाहिए, जो हमारी भारतीय परम्परा है, संस्कृत की परम्परा है। भारतीय जनता संस्कृत की परम्परा से दूर होती जा रही है, आलसी होती जा रही है। प्रत्येक भारतीय को संस्कृत पढ़कर सच्चा भारतीय बनना चाहिए।

वृक्षायुर्वेद, गजायुर्वेद ( पालकाप्य ) और अश्वायुर्वेद ( शालिहोत्र ) संस्कृत भाषा में ही निबद्ध हैं। शल्य-चिकित्सा का भारतीय इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक काल में इसके स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। परन्तु इसको लोकोपयोगी बनाने का श्रेय महर्षि सुश्रुत को है। उनका 'सुश्रुत' ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। पर आज भारतवर्ष में इन सबकी ज्ञानधारा विच्छिन्न हो गयी। भारत को नये सिरे से विदेशी पद्धति पर ये चिकित्सा-पद्धतियाँ सीखनी पड़ी हैं। अपनी प्राचीन परम्परा को आगे बढ़ाकर उसमें विकसित ज्ञान का समाहरण करके उसे लोकोपयोगी बनाने की बात ही नहीं सोची गयी। पका-पकाया कहीं से मिल गया। आलसी को और चाहिए ही क्या! हम विदेशी पद्धति से प्रसन्न हैं, हमारे हृदय अभारतीय होते चले जा रहे हैं।

प्रायः सभी भारतीय जनता प्राचीन प्रियङ्गु, केतकी, जाति, अर्जुन-वृक्ष इत्यादि को नहीं पहचानती, पर निर्गन्ध विदेशी पुष्पों और घासों के नाम बता सकती है। कैसी विडम्बना है! दासता के आवरण में इतनी जकड़ गयी कि 'स्व' को ही भूल गयी! संस्कृत भाषा में जो वनस्पतियों-के नाम होते हैं, वे उनकी रोगनाशक शक्तियों की भी सूचना देते हैं। 'लिसोड़ा' का नाम है—'कफघ्नः'। इस प्रकार हम जान जाते हैं कि लिसोड़ा कफ का नाश करता है। चकबड़ का संस्कृत नाम है—'चक्र-मर्दकः'। इस संस्कृत नाम से हमें पता चलता है कि इसके उपयोग से चक्र=गोल-गोल दाद का नाश होता है। इससे भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'दद्रुघ्नः' नाम भी दिया गया है। सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय इस प्रकार की सार्थकता और लोकोपयोगिता से भरा पड़ा है।

रसायन ( केमिस्ट्री ) शास्त्र के बीज हमें ब्राह्मणग्रन्थों में मिलने लगते हैं। पर इसको सुव्यवस्थित रूप दिया नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ 'रस-रत्नाकर' में। नागार्जुन से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक संस्कृत भाषा में निबद्ध रसायन शास्त्र की अपनी लम्बी परम्परा है। इस परम्परा में उस ज्ञान को भी पचाया गया है, जो भारत-विजेता मुसलमानों के साथ यहाँ आया था। इस क्रियात्मक रसायन-विज्ञान को संस्कृत के माध्यम से किस प्रकार आगे बढ़ाया गया था, किस प्रकार संस्कृत मनीषियों ने इसमें प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों का विकास किया था; पारद से सोना बनाने की कितनी विधियों का आविष्कार किया था तथा पारद की सहायता से नीरोग और दीर्घजीवी होने के कितने उपायों की खोज निकाला था—यह सब भारतीय मनीषा की अध्यवसायिता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। किन्तु भारत में विदेशी सत्ता के पैर जमने पर संस्कृत के माध्यम से लिखी विद्याओं को न तो राज्याश्रय मिला और न ही लोकाश्रय। अत: संस्कृत में रचनाएँ नगण्य हो गयीं। संस्कृत के स्थान पर अरबी-फारसी को महत्त्व मिल गया। संस्कृतज्ञ संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों के ज्ञान को सुरक्षित रखने की चिन्ता में लग गये। संस्कृत के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान की लम्बी शृङ्खला में विकसित ज्ञान की कड़ी जोड़ने का चिन्तन नगण्य हो गया।

रसायन संबन्धी संस्कृत ग्रन्थों की परम्परा की झाँकी दिखाने के लिए यहाँ कुछ ग्रन्थों का नामोल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है।

नागार्जुन (आठवीं शताब्दी) का 'रसरत्नाकर' (रसेन्द्रमंगल), 'कक्ष-पुटतन्त्र', भिक्षुगोविन्द का 'रसहृदयतन्त्र', तीसट ( नवीं शताब्दी ) की 'चिकित्साकलिका', बारहवीं शताब्दी में रचित 'रसार्णव', नित्यनाथसिद्ध ( बारहवीं शताब्दी ) का 'रसरत्नाकर', गोविन्दाचार्य ( तेरहवीं शताब्दी ) का 'रससार', काकचण्डेश्वर का 'काकचण्डेश्वरीमततन्त्र', यशोधर ( तेरहवीं शताब्दी ) का 'रसप्रकाशसुधाकर', वाग्भट का 'रसरत्नसमुच्चय', ढुण्ढुकनाथ ( चौदहवीं शताब्दी ) का 'रसेन्द्रचिन्ता-

मणि', गोपालकृष्ण भट्ट का 'रसेन्द्रसारसंग्रह', प्राणनाथ ( सोलहवीं शताब्दी ) का 'रसप्रदीप', ( सत्रहवीं शताब्दी ) का 'सुवर्ण तन्त्र', और 'धातुरत्नमाला', कायस्थ चामुण्ड का 'रससंकेत कलिका', भैरवानन्द योगी का 'धातुक्रिया' अथवा 'धातुमञ्जरी' (रुद्रयामलतन्त्र के अन्तर्गत) इत्यादि संस्कृत ग्रन्थ रसायन शोध के विकास पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। अभी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने 'गोरक्षसंहिता' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन कर श्लाघनीय कार्य किया है। इसमें कादिप्रकरण ( तन्त्र विद्या ) तथा 'भूतिप्रकरण' ( रसायनशास्त्र ) नामक दो भाग हैं।

रसायन में रस ( पारद ) के जारण मारण इत्यादि के लिए यन्त्रों की आवश्यकता होती है। उक्त संस्कृत ग्रन्थों में विविध यन्त्रों के उपयोग की प्रक्रिया बतायी गयी है। कुछ के नाम इस प्रकार हैं—१. दोलायन्त्र, २. स्वेदनी यन्त्र, ३. पातन यन्त्र, ४. अधःपातन यन्त्र, ५. कच्छप यन्त्र, ६. डेकी यन्त्र, ७. विद्याधर यन्त्र, ८. बालुका यन्त्र, ९. लवण यन्त्र, १०. नालिका यन्त्र, ११. कोष्ठी यन्त्र, १२. तिर्यक्पातन यन्त्र, १३. इष्टिका यन्त्र, १४. बक यन्त्र, १५. डमरू यन्त्र, १६. वारुणीयन्त्र, १७. धूप यन्त्र, १८. तप्तखल्व यन्त्र, १९. भूधर यन्त्र, २०. नियामक यन्त्र, २१. तुला यन्त्र, २२. गजदन्त यन्त्र, २३. शिला यन्त्र, २४. पाषाण यन्त्र, २५. भुवःपातन यन्त्र, २६. चाकी यन्त्र, २७. अग्निसोम यन्त्र, २८. गन्धकवाहिक यन्त्र, २९. मूषा यन्त्र, ३०. हण्डिका यन्त्र, ३१. घोणा यन्त्र, ३२. गुडाभ्रक यन्त्र, ३३. नारायण यन्त्र, ३४. जालिका यन्त्र, ३५. चारण यन्त्र, (सारण यन्त्र) ३६. मेदिनी यन्त्र, ३७. विद्याधर यन्त्र, ३८. वेणु यन्त्र, ३९. दीपयन्त्र, ४०. पद्म यन्त्र इत्यादि।

## संस्कृत भारत की प्रज्ञा है

आज विज्ञान के चाकचिक्य से संपूर्ण संसार चमत्कृत हो रहा है। अद्यतन मानव उसका इतना अभ्यस्त हो गया है कि उसके बिना एक पल भी रहना उसे दुर्निर्वह प्रतीत होता है। भौतिक जीवन से लेकर आध्यात्मिक जीवन तक को इसने प्रभावित कर रखा है। यह सब अस्वाभाविक नहीं है।

विज्ञान किसी एक देश, जाति या व्यक्ति की थाती नहीं होता। मानवमात्र का हित उसे अभिप्रेत है। अधिकाधिक हित के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। मानव को अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती रहें, यही उसका उद्देश्य है। साइकिल से लेकर राकेट तक उसने अपनी सेवाएँ प्रस्तुत कर दी हैं। इससे भी अधिक सेवाएँ प्रस्तुत करने के लिए वह नित-नूतन अनुसन्धान में संलग्न है।

हमारे भारतवर्ष के लिए यह विज्ञान नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन भारत में चार विज्ञान प्रसिद्ध थे—वेदाङ्ग ज्योतिष ( शिल्पशास्त्र ), २. संगीत, ३. योग तथा ४. ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद। ये चारों मानव मात्र के हितकारी थे। मानवमात्र के हितकारी होने कारण तथा मानव की अधिकाधिक सेवा करने के लिए; नूतन प्रक्रियाओं का अपने में समावेश करने के लिए उदारहृदयता रखते हैं। अतः ये चारों शास्त्र विज्ञान की कोटि में परिगणनीय हैं। भारत इन चारों को अपनी मुट्ठी में रखकर उदारतापूर्वक वितरण करता था। इसीलिए उसे जगद्गुरु कहा जाता था। उसने अपनी सेवा से संपूर्ण मानव जीवन को आप्यायित कर रखा था।

वाणिज्यकुशल विदेशियों ने अपनी कूटनीति से संपूर्ण मानव-सेवा पर अपना आधिपत्य जमा लिया। परम्पराओं को नष्ट कर अपनी वस्तु

बाजार में रख दी। ढाका की मलमल बनाने वाले शिल्पियों का अङ्गुलिच्छेद कर परम्परा नष्ट कर दी और अपने मिल वस्त्रों को बाजार में रख दिया। अब जनता मिल वस्त्रों की अभ्यस्त हो गयी। परम्परा का पुनः प्रचालन करना होगा। पर पूर्व सदृश उच्चकोटि तक उसे पहुँचाने में वर्षों लग जाएँगे। मिलों की स्पर्धा में वह कितनी टिक सकेगी! यद्यपि उक्त चारों भारतीय विज्ञानों की परम्परा आज भी सुरक्षित है, तथापि विकसित पद्धतियों को अपने में न पचा सकने के कारण उनके सेवा-क्षेत्रों पर पाश्चात्त्य विज्ञान हावी हो गये हैं।

ज्योतिष विज्ञान का आश्रय लेकर भारतीयों ने नक्षत्रों की गति का अध्ययन किया। आज बड़े बड़े दूरवीक्षण यन्त्रों द्वारा नक्षत्रों की गति का जो सूक्ष्मेक्षण किया जाता है, भारतीयों ने शताब्दियों पूर्व बिना किसी यन्त्र की सहायता से उसका ज्ञान कर लिया था। गणनापद्धति में वह जगद्गुरु था।

दूसरी ओर फलित ज्योतिष का विकास कर उसने भविष्यवाणियाँ प्रारम्भ कीं। पर इस विषय में वह अधिक प्रगति नहीं कर सका। यवन-देश फलित ज्योतिष में अधिक आगे बढ़ गया था। मानव की अधिकाधिक सेवा के लक्ष्य के कारण बिना भेद-भाव के भारत ने उस ज्ञान को अपने शास्त्र में जोड़ लिया। विज्ञान का यही स्वभाव है। वह जातिदेश-कालातीत होता है। अपने ज्योतिष ग्रन्थों में उस ज्ञान को संस्कृत के माध्यम से इस प्रकार पचाकर संनिविष्ट किया गया कि उसके देशान्तर से गृहीत होने का भारतीयों को शीघ्र विश्वास नहीं हो पाता। यद्यपि हमारे ज्योतिषशास्त्र में यह मिश्रण विद्यमान है, तथापि संस्कृत भाषा की उसी लय में उसके निबद्ध होने के कारण, अपने में उसे पूर्णतया आत्मसात् कर लेने के कारण उस वैदेशिक मिश्रण का पृथक् अस्तित्व ज्ञात नहीं हो पाता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि छठीं शताब्दी के वराहमिहिर ने अपने बृहज्जातक नामक ग्रन्थ में यूनानी भाषा की द्वादश राशियों का उल्लेख किया है। यथा—१. क्रिय ( =मेष ), २. तावुरु ( =वृष ), ३. जितुम ( =मिथुन ), ४. कुलीर (=कर्क ), ५. लेय (=सिंह ), ६. पाथोन

(=कन्या), ७. जूक (=तुला), ८. कौर्प्य (=वृश्चिक), ९. तौक्षिक (=धनु), १०. आकोकेर (=मकर), ११. हृद्रोग (=कुम्भ), १२. अन्त्यभ (=मीन)।

क्रियतावुरुजितुमकुलीरलेयपाथोनजूककौर्प्याख्या:।
तौक्षिक आकोकेरो हृद्रोगश्चान्त्यभं क्रमशः॥

इसके अतिरिक्त पणफर, जायामित्र (दियोमित्रियोस) इत्यादि शब्दों को गृहीत किया। फलित ज्योतिष के विषय में इस ऋण को उन्होंने बृहत्संहिता में स्पष्ट करते हुए कह दिया कि इस फलित ज्योतिष की सम्यक् स्थिति म्लेच्छों (यवनों) में है। वे ऋषितुल्य पूजित होते हैं—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥

इस प्रकार देशान्तरीय पद्धति को अपने शास्त्र में पचा लेने पर भी संस्कृतभाषा की गंगावत् पवित्र धारा के कारण किसी भी भारतीय ने उक्त को मिश्रित पद्धति का नहीं बताया। ऐतिहासिकों के मिश्रित कहने पर ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् तथा भारतीय जनता यह स्वीकृत करने के लिए अद्यापि प्रस्तुत नहीं हैं कि ज्योतिष में मिश्रण है। उनकी दृष्टि से तो गंगाप्रवाहगत वस्तु शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार संस्कृत प्रवाहगत भाषान्तरीय शब्द भी शुद्ध हो जाते हैं।

इसके भी आगे वैदेशिक ताजिक ग्रन्थों के विषय को भारतीय ज्योतिर्वेत्ताओं ने संस्कृत के माध्यम से उपन्यस्त किया। सवाई जयसिंह ने भारतीय ज्योतिष विज्ञान को आधुनिकतम बनाये रखने के लिए पण्डित जगन्नाथ सम्राट् से अरबिक ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद कराया। गोलीय रेखागणित के ग्रन्थ 'उकरा' को उक्त नरेश ने नयनसुख उपाध्याय से लोकोपयोगिता के लिए संस्कृत में अनूदित कराया ताकि भारतीय जनता आगे बढ़े हुए ज्ञान से वंचित न रह जाए। इसी प्रकार एक 'हयत' ग्रन्थ भी अनूदित हुआ है। देशान्तरीय ज्ञान को अपने शास्त्र में पचाने और अनुवाद कराने के कार्य अनवरत चलते रहे। अन्यथा यह शास्त्र विज्ञान की कोटि

में नहीं आ सकता था और भारतीय जनता विदेशी ग्रन्थों की ओर आकृष्ट होने लगती। वैदेशिक ज्ञान के साथ-साथ वह वहाँ की भाषा एवं संस्कृति की भी दास हो गयी होती। भारतीय नरेश और विद्वान् संस्कृत के माध्यम से अपने शास्त्रों की गरिमा को बनाये रखने के साथ-साथ शास्त्रों को आधुनिकतम भी बनाते जाते थे। यूनान का यह ज्ञान अरबिक भाषा में अनूदित हुआ और उससे संस्कृत में जबकि उस समय आज के समान न तो यातायात की सुविधाएँ थीं और न वैज्ञानिक उपकरण ही विद्यमान थे।

संस्कृत भाषा के ज्ञान-विज्ञान को अधुनातन बनाये रखने के लिए सवाई जयसिंह ने बहुत बड़ा कार्य किया था। मानसिंह ने ज्योतिष की प्रायोगिकता को लक्ष्य में रखकर जयपुर और वाराणसी में वेधशालाओं की स्थापना करायी। ताजिक नीलकण्ठी इत्यादि बहुसंख्यक ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष-वेत्ताओं की कर्मठता और नूतन ज्ञान के समाहरण की सूझबूझ का परिचय देते हैं।

आधुनिक युग के ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् बापूदेव शास्त्री ने ज्योतिष की महत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पञ्चाङ्ग निर्माण में आधुनिक पद्धति का आश्रय लिया। ग्रीनविच् वेधशाला में दूरवीक्षण यन्त्रों की सहायता से बनी नाटिकल जन्त्री के आधार पर उन्होंने पञ्चाङ्ग निर्माण किया और उसका नाम रखा–'दृक्सिद्धपञ्चाङ्गम्'। दूरवीक्षण की सहायता से नेप्च्यून, हर्षल, प्लूटो इत्यादि कुछ नये नक्षत्रों का ज्ञान हुआ, जिनका प्रभाव मनुष्यों पर पड़ता है। बापूदेव शास्त्री ने प्राचीन भारत के लिए अज्ञात इन नक्षत्रों का समावेश अपने पञ्चाङ्ग में किया, क्योंकि आगे बढ़े ज्ञान को संस्कृत के माध्यम से पचाना संस्कृतज्ञों का लक्ष्य रहा है। संस्कृत माध्यम के कारण शास्त्रीयता अक्षुण्ण रहती है। अन्य पञ्चाङ्गों ने इस ज्ञान को स्वीकार नहीं किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब म० म० बापूदेव शास्त्री ने यह जाना कि सूर्य चन्द्र ग्रहण इत्यादि के काल में तदानीन्तन पञ्चाङ्गों

में पर्याप्त अन्तर आता है, तब उन्होंने दृग्गणित के अनुसार पञ्चाङ्ग का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि उस समय के पण्डितों ने उस पञ्चाङ्ग के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए कहा कि यह परम्परा-विरोधी एवं शास्त्र-विरोधी है, तथापि आगे चलकर सभी पञ्चाङ्गों को सूर्य-चन्द्र ग्रहण इत्यादि के काल को सही-सही बताने के लिए दृग्गणित पद्धति का ही अवलम्बन लेना पड़ा।

इस प्रकार प्राचीन भारत के ऋषियों के चिरन्तन चिन्तन के परिणामस्वरूप हजारों वर्षों से चले आ रहे ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान आज संस्कृत भाषा में सुरक्षित है। इस ज्ञान को विदेशियों द्वारा पराभूत होने से बचाने वाले वे आचार्य जिन्होंने निरालस्य भाव से उसे अधुनातन बनाये रखने के लिए उद्यम किया है, भारतीय जनता के वन्द्य हैं।

ज्योतिष शास्त्र की लोकोपयोगिता का ध्यान रखते हुए वर्तमान ज्योतिर्वेत्ताओं और ज्योतिष के अधिकारी विद्वानों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे संसार में ज्योतिष विद्या और गणित सम्बन्धी नूतन अनुसन्धानों एवं उनके निष्कर्षों पर ध्यान रखें ताकि उनके लाभ से भारतीय जनता वञ्चित न रह जाए; उसे वैवश्यात् कालान्तर में संस्कृत से विमुख होकर देशी पद्धति न छोड़नी पड़े तथा विदेशी पद्धति की ओर उन्मुख न होना पड़े।

संस्कृत भाषा में निबद्ध ज्योतिष-शास्त्र प्राचीन भारत का विज्ञान था। गणित, खगोल या नक्षत्र विज्ञान तथा फलित इसके विषय हैं। यद्यपि संसार गणित में इसका ऋणी है, तथापि समय-समय पर विकसित नूतन ज्ञान का समाहरण इस ज्योतिष शास्त्र में होता आया है। इस शास्त्र ने अपने ज्ञान को अधुनातन बनाये रखा। छठी शताब्दी तक ज्योतिष में हुए ज्ञान के नवीन पक्षों का समाहरण वराहमिहिर ने अपने 'बृहज्जातक' तथा 'बृहत्संहिता' नामक ग्रन्थों में यथास्थान किया है।

यद्यपि वराहमिहिर ने अपने फलित ज्योतिष के ग्रन्थों में यूनानी ज्योतिष का आश्रय लेकर म्लेच्छ यवनों को फलित ज्योतिष का

सम्यक् ज्ञाता बताया है, तथापि उनके ग्रन्थों में ज्योतिष के ज्ञान को यूनानी ज्ञान से बहुत आगे बढ़ाया गया है। किसी भी विषय की जानकारी को आगे बढ़ाने का नाम ही सच्चा अनुसन्धान है। यही कारण है कि इस समय यूरोपीय विद्वान् भारतीय ज्योतिष के ग्रन्थों पर यूरोपीय ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक श्रद्धालु हैं।

मेरे फ्रांसीसी सुहृद् डॉ० फिलिप वोऊइन् भारतीय फलित ज्योतिष पर इतने लट्टू हैं कि उन्होंने इसके ग्रन्थों को मूल रूप में पढ़ने के लिए संस्कृत का अभ्यास किया। यद्यपि डॉ० फिलिप् लैटिन और ग्रीक् भाषाओं के अच्छे जानकार हैं, तथापि यूनानी ज्योतिष पर उनकी श्रद्धा नहीं है। डॉ० फिलिप मुख्यत: मनोरोग चिकित्सक हैं। उनके व्यवसाय-के 'लिए संस्कृत कोई आवश्यक भाषा नहीं है। अब वे संस्कृत भाषा में धारावाहिक रूप से पत्र लिखते हैं। फलित ज्योतिष का प्रयोग उनके अपने व्यवसाय ( मनोरोग-चिकित्सा ) में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकेगा। वे नवग्रहों की आराधना पर भी विश्वास रखते हैं। नवग्रह-स्तोत्र पाठ करने के लिए आतुर हैं किन्तु उच्चारण-दोष सम्प्रति उनकी कामना पूर्ण नहीं होने दे रहा है। निकट भविष्य में वे इसमें निश्चयत: सफलता प्राप्त कर लेंगे। वे नवग्रहों की पूजा-विधि जानने के लिए भी अत्यन्त उत्सुक हैं।

१. डा० फिलिप के संस्कृत पत्र परिशिष्ट में पठनीय।

यूरप में विवाह-विच्छेदों की बाढ़-सी आ गयी है। पाश्चात्त्य मनीषी इसका हल निकालने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे विचार कर रहे हैं कि युवक और युवतियों का समान व्यसन और समान शील किस प्रकार ज्ञात हो ताकि वैवाहिक विच्छेदों की परम्परा में कमी आ जाए। कम्प्यूटर नामक यन्त्र की सहायता से वे इसका हल निकालने के लिए सचेष्ट हैं। किन्तु उनका यह प्रयत्न भी निष्फल हो रहा है। पाश्चात्त्य जगत् के बहुत-से विवेकशील व्यक्ति अब उक्त समस्या का समाधान ढूँढ़ने के लिए भारतीय फलित ज्योतिष की ओर उन्मुख हुए हैं। यह

शास्त्र संस्कृत में निबद्ध है। मानव-जीवन की शाश्वत समस्याओं का हल खोजने के लिए संस्कृत आज भी लोकोपयोगी है। प्रत्येक भारतीय व्यक्ति को उसका अध्ययन अनिवार्यतया करना चाहिए।

संस्कृत का 'शाकुन शास्त्र' अपना सानी नहीं रखता। इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इसका अध्ययन-अध्यापन वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से नहीं किया गया। किन्तु यह शास्त्र कम महत्त्व नहीं रखता। पशु-पक्षियों को इन्द्रियातीत ज्ञान रहता है। वर्षा, भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतों का फटना, अकाल पड़ना—इत्यादि दुर्घटनाओं की पूर्व सूचना पशु पक्षी दे देते हैं। सज्जनों और दुर्जनों को पहचानने की उनमें अद्भुत शक्ति विद्यमान रहती है।

डॉ० फिलिप के पास एक विशाल कुतिया है। उन्होंने उसका नाम संस्कृत में रखा है—'वक्रा'। सम्पूर्ण सैन्ट अल्बाँ के निवासियों को विवश होकर इस संस्कृत शब्द का उच्चारण करना पड़ता है। 'वक्रा' अद्वितीय कुतिया है। उसकी सानी की कुतिया दूर दूर तक नहीं है। वह भेड़िया की वर्णसंकर नस्ल की है। उसके कान सदा खड़े रहते हैं, जीभ काली है, बाल गहरे बादामी रङ्ग के हैं। बड़ी शान्तिप्रिय है। काल-बेल बजते ही क्रुद्ध होकर द्वार की ओर लपकती है। एक दिन मैं मकान की दूसरी मंजिल में अपनी धोती धोकर उसकी सिकुड़नें ठीक करने के लिए झटकारने लगा। झटकारने का शब्द सुनकर वह गुर्राती हुई दूसरी मंजिल में लपककर आयी। पर मुझे देखकर सहम गयी।

जिस दिन मैं डॉ० फिलिप के साथ उनके घर पहुँचा 'वक्रा' वहाँ एक घण्टे बाद दासी के घर से आयी। में उसके लिए सर्वथा नया प्राणी था—धोती-कुर्ता और चप्पल पहने। आपको आश्चर्य होगा कि 'वक्रा' मुझे देखकर बिलकुल नहीं गुर्राई और न परेशान ही हुई। वह मेरे पैरों के पास आकर बैठती। डॉ० फिलिप ने 'वक्रा' की विशेषताएँ बतायीं कि वह कितकी स्वाभिमानी है। छः मास की अवस्था-से उनके साथ है। फ्रेंच तो समझती ही है, संस्कृत भी जानती है। संस्कृत का अपना नाम जानती है। मैंने उन्हें तत्काल बताया कि

वराहमिहिर ने अपनी 'बृहत्संहिता' में अच्छी कुतिया का लक्षण लिखा है। डॉ० फिलिप 'बृहत्संहिता' उठा लाये। वह श्लोक इस प्रकार है—

पादे पादे पञ्च पञ्चाग्रपादे-
वामे यस्याः षण्नखा मल्लिकाक्ष्याः।
वक्रं पुच्छं पिङ्गलालम्बकर्णा
या सा राष्ट्रं कुक्कुरी पाति पुष्टा॥ ६१, २।

जिस कुतिया के प्रत्येक पैर में पाँच-पाँच नाखून हों, बाएँ पैर में छः नाखून हों, जिसका नेत्रमण्डल के बाहर मल्लिका-पुष्प जैसी धारियाँ हों, पूँछ टेढ़ी हो, रङ्ग भूरा ( पिङ्गल ) हो, कान लम्बे हों, वह पुष्ट कुतिया राष्ट्र की रक्षा करती है। उनकी 'वक्रा' में ये सारे लक्षण विद्यमान थे। वे प्रसन्न हो गये। मैंने जब पशु-पक्षियों ( विशेषतः कुक्कुर जाति ) के अन्तर्ज्ञान की बात कही, तो डॉ० फिलिप बोले—'एक बार जब फ्रांस में ज्वालामुखी पहाड़ फटने को हुआ, तो उसके तीन दिन पहले से कुत्ते रोने लगे थे।'

किन्तु यह जान सकना कठिन है कि पशु-पक्षियों द्वारा भिन्न-भिन्न समयों पर की गयीं भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ क्या अभिप्राय रखती हैं। यदि समय समय पर की गयीं पशु-पक्षियों की इन साभिप्राय चेष्टाओं का तात्पर्य ज्ञात हो जाए, तो राष्ट्र अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, युद्ध, भूकम्प, ज्वालामुखी विस्फोट इत्यादि के पूर्व ज्ञान के द्वारा अनेक विपत्तियों से छुटकारा पा सकता है। ऋषियों ने अपने प्रतिभा-ज्ञान के बल पर तथा विद्वानों ने अपने चिरकालीन अनुभवों के बल पर संस्कृत में शाकुन शास्त्र का प्रणयन किया। इस शास्त्र को नूतन ज्ञान से परिबृंहित कर, प्राचीन ज्ञान की उसी शृङ्खला में नवीन ज्ञान की कड़ी को जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। स्वदेशीयता-प्रेमी शासन के तीस-वर्षीय कार्य-काल में इस विज्ञान को इतना आगे बढ़ा दिया जाना चाहिए था कि संसार में यह निदर्शन बन जाता। भारत में यद्यपि आज बहुत स्थानों पर चिड़ियाघरों की स्थापना की गयी है, तथापि पशु-पक्षियों की स्वाभाविक

चेष्टाएँ उनकी स्वतन्त्रावस्था में ही अधिक स्पष्ट होती हैं। उनके अध्ययन के लिए अभयारण्य अधिक उपयुक्त सिद्ध होंगे।

संगीत शास्त्र का मूल है गन्धर्ववेद। गन्धर्ववेद उपवेद है सामवेद का। इस प्रकार सामवेद से चली इस धारा की मधुर झंकार आज भारत के ही नहीं विदेशों तक के श्रोताओं को मुग्ध कर रही है। इसके अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। देवर्षि नारद ने 'रागरत्नावली' ग्रन्थ लिखा था, पर आज उसका बुन्देली अनुवाद ही मिलता है, मूल संस्कृत नष्ट हो गया है। तुम्बुरु की परम्परा का आज कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो रहा है। यह सम्पूर्ण शास्त्र देववाणी संस्कृत में निबद्ध है। छोटे-मोटे गवैये तो 'स रे ग म प ध नि' स्वरों का आरोह-अवरोह और कुछ राग-रागनियों के आलाप इत्यादि को रटकर अपने को लोकोपयोगी मान लेते हैं। संगीतशास्त्र के मर्म को समझने वाले विद्वान् इस लोकोपयोगी शास्त्र को निरन्तर समृद्ध करते आ रहे हैं। मुगल काल में विदेशी संगीत की हवा का भी झोंका आया। तत्कालीन संगीतज्ञों ने उसे अपने शास्त्र में पचाकर भारतीय संगीत को बचा लिया। अन्यथा आज आयुर्वेद शास्त्र जिस तरह एलोपैथी चिकित्सा पद्धति के रेला को रोकने में असमर्थ और उसके सामने अपने को दयनीय स्थिति में पा रहा है, उसी प्रकार संगीत शास्त्र भी वैदेशिक संगीत से पदाक्रान्त हो गया होता। पर धन्य हैं वे हरिदास स्वामी और तानसेन इत्यादि संगीतज्ञ जिन्होंने संगीत की वैदेशिक नूतन धारा को संस्कृत गंगा की ओर मोड़ दिया। सभी नूतन राग और रागिनियों के लक्षण इत्यादि को संस्कृत विद्वानों ने संस्कृत भाषा में निबद्ध कर दिया। औमापतम्, दत्तिलम्, भरतभाष्यम्, भरतार्णवः, श्री कण्ठ विरचित रसकौमुदी, सोमनाथकृत रागविबोध, चतुरदामोदर-रचित संगीतदर्पण, संगीतपारिजात, कालसेन महाराना कुम्भ-कृत संगीतराज, वाचनाचार्य सुधाकलश विरचित संगीतोपनिषत्सारोद्धार तथा स्वरमेलककलानिधि जैसे अनेक ग्रन्थ अब भी प्राप्त हैं।

भारत को जिस प्रकार आज हिन्दी में नये सिरे से समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, शिल्पशास्त्र, कृषि-विद्या इत्यादि पर ग्रन्थ लिखाने पड़

रहे हैं, उस प्रकार संगीतशास्त्र पर भी पाश्चात्य संगीत के अनुकरण पर ग्रन्थ लिखाने पड़ते यदि उसकी अपनी कोई भारतीय परम्परा नहीं होती। प्राचीन परम्परा यदि होती भी तो इतनी जीर्ण कि उसके तलस्पर्शी ज्ञाताओं के अभाव में उस वृद्धा मां को बिदा कर देना पड़ता। प्राचीन परम्परा की ज्ञान-धारा को आगे बढ़ाते रहकर निर्मल रखना ही भारतीय मनीषी अपना पुनीत कर्तव्य समझते आये हैं। ऋषि-ऋण से मुक्त होने की यही विधा है। यही है ऋषियों का मन्त्र-दृष्टृत्व कि अपने पूर्वजों की ज्ञानधारा को आगे बढ़ाते रहो ताकि लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त होता रहे। आज संगीत की यह ज्ञान-धारा भारत भूभाग को ही आप्यायित नहीं कर रही है, अपितु सारे विश्व को तृप्ति प्रदान कर रही है। भारतीय संगीत-शास्त्र ने सम्पूर्ण विश्व को आकृष्ट किया है।

पेरिस में जिस फ्रांसीसी परिवार के साथ मैं ठहरा था, उसने सायंकाल वंशीवादक के नाम को बताकर वंशी के रिकार्ड लगा दिये। सुनकर मैं गद्‌गद हो गया। यात्रा की थकावट दूर हो गयी। आतिथेय को आश्चर्य हो रहा था कि मैं बिलकुल थका नहीं और उन्हीं की तरह तरोताजा हूँ। मैंने उनकी भारतीय संगीत-प्रियता को समझ लिया। उनके आग्रह पर गणेश और सरस्वती के स्तोत्रों को श्लोकों की तर्ज पर टेप कर दिया। संस्कृतज्ञ डॉ० फिलिप को बड़ा ही सन्तोष हुआ क्योंकि वे गणेश और सरस्वती के बड़े भक्त हैं। कुमारी सेलीन जेराँ भी ताल लगा रही थी। किन्तु जब मैंने 'यमुनाष्टक' छेड़ा तो कुमारी सेलीन के पैरों ने धरती छोड़ दी और वे थिरकने लगे। वह ताल लगाकर सिर हिलाने लगी मानों कोई नागिन सँपेरे की बीन को मन्त्रमुग्ध होकर सुन रही हो। डॉ० फिलिप ने इस स्तोत्र को टेप करने के लिए कोई अधिक रुचि नहीं दिखायी। पर कुमारी सेलीन ने इस संस्कृत स्तोत्र को साग्रह टेप कराया।

संस्कृत के अनन्त छन्दों में वह माधुरी भरी है कि भाषा-ज्ञान न रहने पर भी उसके प्रति अपार आकर्षण हो जाता है। सर्प भाषा नहीं जानता

है किन्तु मोहक ध्वनि को पहचानता है। भारतीय संगीत वैदिक और लौकिक छन्दों का ही विकसित रूप है। सामवेद को छन्द कहा जाता था। बाद में सम्पूर्ण वेद ही छन्द के नाम से प्रसिद्ध हो गया। 'द्रुतविलम्बित' छन्द को गाइए तो दो ही पदावलियाँ होंगी—द्रुत और विलम्बित। इसी प्रकार 'भुजंगप्रयात' इत्यादि छन्दों की महिमा है।

इसी भारतीय संगीत ने सारे यूरोप में तहलका मचा दिया। पखावज और झाँझ के साथ गाये गये 'हरे कृष्ण हरे राम' ने यूरोपीय जनता पर जादू कर दिया। नृत्य, गीत और वाद्य ( झाँझ, मँजीरा, वंशी, मृदङ्ग, तानपूरा, वीणा इत्यादि ) का चमत्कार ! भारतमें घर-घर भजन के प्रयोग के कारण प्रत्येक परिवार मानसिक रोगों से बचा रहता था। किन्तु आज पाश्चात्त्य सभ्यताके रंग में रँगा भारतीय इस अमृत-लहरी से दूर होता जा रहा है, बहुत दूर ! फलतः यूरोपीयों की भाँति वह भी मानसिक रोगों का शिकार होता जा रहा है। भारतीय संगीत-लहरी ने यूरोपीयों के कर्णरन्ध्रों से आत्मा तक पहुँचकर उनकी मानसिक थकान, अवसाद और तनावों को दूर किया है। एक अच्छा संगीतज्ञ मनश्चिकित्सक भी होता है। इसकी उपयोगिता उन्होंने पहचानी है। यह है संस्कृत के 'हरे कृष्ण हरे राम' की लोकस्पृणता, और चमत्कृति। भारतीय संगीतशास्त्रने सम्पूर्ण विश्व को आकृष्ट किया है। अद्भुत है संस्कृत-वाणी का प्रताप, अमोघ है इसका प्रसाद, अवर्णनीय है इसकी महिमा। इसमें जिस विधाको आबद्ध कर दिया गया वह अमर हो गयी। इसलिए भारत का प्रत्येक वर्ग इस देववाणी में अपने-अपने विचारों को आबद्ध करने के लिए लालायित रहा करता है।

वाद्यों में तन्त्र-वाद्य ( यथा—वीणा, सितार ), सुषिरवाद्य—( यथा—वंशी, तूर्य, शंख ), ( साम्प्रतिक हारमोनियम भी एक प्रकार का सुषिर (=छिद्र ) वाद्य ही है ), आनद्ध - चमड़े इत्यादि से मढ़े हुए मृदङ्ग नगाड़ा ढाक आदि तथा घन=काँसे के झाँझ, मँजीरा इत्यादि भेद हैं। विभिन्न वाद्यों की बारीकियाँ संगीतदामोदर नामक संगीत-ग्रन्थ में बतायी गयी हैं।

गीतों में विभिन्न राग-रागनियों की अवतारणाएँ संस्कृत के ग्रन्थों में देखने को मिलेंगी। यह सम्पूर्ण गानविद्या संस्कृत में निबद्ध है। किस समय कौन-सा राग गाना चाहिए, उसके गाने से देश, काल और वस्तु पर क्या प्रभाव पड़ता है—यह भी संस्कृत के ग्रन्थों में बताया गया है। किन्तु उसकी शृङ्खला की कड़ियों को सम्प्रति बढ़ाने का कार्य नहीं किया जा रहा है। नृत्य-विद्या का एक पृथक् ही शास्त्र है। इस सम्पूर्ण विद्या का निबन्धन संस्कृत में हुआ है। देशभेद से इसके अनेक प्रकार हैं।

भारतीय स्थापत्य शास्त्र भी संस्कृत में ही लिखा गया है। महाभारत काल में स्थापत्य-कला अपने चरम उत्कर्ष पर थी। वाल्मीकीय रामायण में अयोध्या नगरी का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होगा कि उस समय वहाँ सात-सात मंजिले मकानों का निर्माण होता था। पुराण तथा उपपुराणों में पर्याप्त सामग्री भरी पड़ी है। अग्निपुराण और मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के दर्जनों आचार्यों का उल्लेख है। प्रासाद-निर्माण-कला भारत की उत्कृष्ट कला है। इसका एक आचार्य इन्द्र भी था। बृहत्संहिता में पाराशर कश्यप और भरद्वाज को वास्तुविद्या का आचार्य बताया गया है। आज भी सैकड़ों वर्षों के बने प्रासाद और मन्दिर भारतीय स्थापत्य की कीर्ति का गान कर रहे हैं। उनके निर्माण में सामग्री का जिस विधि से प्रयोग किया गया है, आज के वैज्ञानिक युग में भी दुर्लभ है। किन्तु विदेशी संस्कृति के पीछे भागने वाली अद्यतन भारतीय जनता ने अपनी देशी परम्परा को आगे बढ़ाना तो दूर उसका सर्वथा परित्याग कर दिया, स्थापत्य सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों का अनुशीलन छोड़ दिया। अप्रकाशित पड़े अगणित हस्तलेखो कों ढूँढ़ना तो बहुत दूर की बात है!

उड़ीसा, दक्षिण भारत इत्यादि प्रदेशों में आज भी देशी परम्परा के स्थापत्य का निर्माण करने वाले शिल्पी बचे हैं। वे अपने कुल में प्राचीन काल से परम्परागत हस्तलिखित ग्रन्थों के अनुसार प्रासाद-निर्माण करते हैं। इन हस्तलेखों की भाषा संस्कृत है। पुराणों उपपुराणों और पृथक्शः उपलब्ध 'वास्तुमञ्जरी,' 'काश्यप-शिल्प', 'समराङ्गणसूत्रधार' इत्यादि ग्रन्थों की सामग्री के साथ प्रदेशों के शिल्पियों के यहाँ सुरक्षित हस्त-

लेखों की सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। कुछ शताब्दी पूर्व देवीसिंह महीपति नामक नरेश ने 'भारोत्थापनयन्त्रनिर्माणविधि' नामक ग्रन्थ की संस्कृत में रचना का श्लाघ्य कार्य किया। यह लघु ग्रन्थ संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो गया है।

संस्कृत ने देशी स्थापत्य की प्राचीन कला को आज भी सुरक्षित रख छोड़ा है। इस उष्णता-प्रधान भारत में विदेशी पद्धति से निर्मित भवन सुखद नहीं हैं। गर्मियों में वे आग उगलने लगते हैं और शीतकाल में हिम। यद्यपि फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड जैसे शीतप्रधान देशों के स्थापत्य में आधुनिकता का प्रवेश हो गया है, तथापि वहाँ प्रधानतया स्वदेशीयता बरती गयी है, अन्धानुकरण नहीं किया गया है। अधिक शीत के कारण भवन ही स्वयं हिम न बन जाएँ—एतदर्थ सीमेण्ट आदि का प्रयोग बहुत सूझ-बूझ के साथ किया गया है। पेरिस जैसी विश्व-सुन्दरी नगरी में अधिकांश भवन आज भी खपड़ैल के देखे जा सकते हैं। स्विट्जरलैण्ड के सीलिसवर्ग, जूरिख और जेनेवा में अधिकांश भवनों पर खपड़ैल ही छाये रहते हैं। दोनों देशों के भवनों में लकड़ी का प्रयोग बहुत सूझ-बूझ के साथ किया जाता है। भारतीय जनता को चाहिए कि वह संस्कृत का अध्ययन करके अपने स्थापत्य को आगे बढ़ाए। भारतीय भवनों की दीवालों पर किस प्रकार के प्लास्टर उपयुक्त होते हैं, उनके बनाने का विवरण बृहत्संहिता में मिलता है।

हैदराबाद के डॉ० महमूद सैयद कासिम के पूर्वज बीजापुर के राजपुरोहित और राजमन्त्री थे। उनके पास एक विशाल पुस्तकालय है जिसमें भौतिक विज्ञान के निम्न विषयों के संस्कृत ग्रन्थ सुरक्षित हैं—

१. शवों की चिरकाल तक सुरक्षा।
२. अपने अभीष्ट रंग के कपास का उत्पादन।
३. विशिष्ट प्रकार के निर्मित दो पत्थरों की सहायता से टेली-

९. पर्वत-पातन
१०. जलोन्नयन
११. जलौष्ण्य ( दिल्ली और आगरा के किलों में उष्ण

फोन की तरह हजारों मील की दूरी पर वार्तालाप।

४. धातुओं का अग्नि के बिना द्रवीकरण

५. भूगर्भविद्या

६. आश्चर्यकर दर्पण

७. हीरक-द्राव

८. हिमोपल-वारण

जल के झरने थे, उनका रहस्य जानने के लिए आधुनिक इंजीनियरों ने उन्हें नष्ट कर दिया। )

१२. स्वर्ण-निर्माण ( अयोध्या के वसिष्ठ कुण्ड निवासी देवकुमार दास ७४ वर्ष पूर्व जीवित थे, वे ताम्र से स्वर्ण-निर्माण करते थे )

यद्यपि विदेशियों की ईर्ष्या के कारण ज्ञान-विज्ञान से संबद्ध संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नष्ट कर दिये गये हैं, तथापि संस्कृत में आश्चर्योत्पादक ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं।

अन्तरिक्षविज्ञान के ग्रन्थ 'भारद्वाज संहिता' में आकाशगत ४४२ मार्गों का निर्देश है, जिस पर विमानों का विभिन्न प्रकार से चलाना बताया गया है। भारद्वाज के 'यन्त्रसर्वस्व' का 'विमानप्रकरण' तीन स्थानों से प्रकाशित हो चुका है—१. यतिबोधानन्द कृत श्लोक-बद्ध वृत्ति सहित 'बृहद्विमान-शास्त्र,' सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दयानन्द भवन, नई दिल्ली—१, फरवरी १९५९, २. भुवनेश्वरी पीठ, गोंडल, सौराष्ट्र तथा ३. जी. आर. जोसेर ( Josyr ), दक्षिण भारत।

विषयानुक्रमणी के अनुसार उक्त ग्रन्थ आठ अध्यायों में पूर्ण हुआ है। प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में १२-१२ अधिकरण, तृतीय में १४, चतुर्थ में १२, पञ्चम में १३, षष्ठ में १२, सप्तम में ११ तथा अष्टम में १५ अधिकरण हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १०१ अधिकरणों का उल्लेख मिलता है। पर सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्रथम अधिकरण पूर्ण तथा द्वितीय अधिकरण के कुछ सूत्रों के साथ यह ग्रन्थ बोधानन्द की वृत्ति के सहित छपा है।

## संस्कृत भारत का जीवन-दर्शन है

विना किसी पर विश्वास लाये मानव अपने लक्ष्य से भटक जाएगा। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे किसी न किसी सिद्धान्त पर विश्वास करना ही होगा। उस पर विश्वास करते-करते शनैः शनैः उसे अपनेपर विश्वास होने लगता है। यही आत्मविश्वास है। विश्वास उसी पर किया जाता है जो श्रद्धेय=श्रद्धा का पात्र हो। किसी व्यक्ति को पहचानना हो तो देखिए कि उसकी श्रद्धा किस वस्तु पर है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिस वस्तु पर उसकी श्रद्धा होगी उतने ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट उसके विचार होंगे। उतनी ही विस्तृत अथवा संकुचित उसकी विचार-सीमा होगी। श्रद्धा उस वस्तु पर की जाती है जो आदर्श-स्वरूप हो, गुण-निधान हो। इसलिए कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'। श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है—

> व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
> दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
>
> —माध्यन्दिन संहिता १९, ३०

सन्त तुलसीदास ने पार्वती और शिव को श्रद्धा ओर विश्वास का रूप बताया है। जिस प्रकार पार्वती के बिना शङ्कर और शंकर के बिना पार्वती अपूर्ण हैं, उसी प्रकार श्रद्धा के बिना विश्वास और विश्वास के बिना श्रद्धा अपूर्ण है। इन दोनों के बिना सिद्ध भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख पाते, सामान्य जन की तो बात ही क्या—

> भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
> याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥

संसार के प्रत्येक देश के प्रत्येक मानव को किसी न किसी पर विश्वास करना ही पड़ता है। उन आदर्शों उन नियमों और उन धर्म-ग्रन्थों पर विश्वास करना पड़ता है, जिनकी जीवन-धारा उस व्यक्ति को

मान्य होती है। अतः न्यायाधीश शपथ दिलाते समय शपथ लेने वाले व्यक्ति के हाथ पर उस ग्रन्थ को रखता है, जिसके जीवन-दर्शन पर उसे विश्वास होता है। इन्हीं विश्वासों के आधार पर मानव वर्गों में विभक्त है और इन वर्गों को मिटाया नहीं जा सकता, विश्वासों को मिटाया नहीं जा सकता। 'बाइबिल' के जीवन-दर्शन पर विश्वास करने वालों के समुदाय का नाम 'क्रिश्चियन' है। 'कुरान-शरीफ' के जीवन-दर्शन पर विश्वास करने वालों के समुदाय का नाम 'मुसलिम' है। 'यहोआ' के जीवन-दर्शन पर विश्वास करने वालों का नाम 'यहूदी' है, 'अवेस्ता' के जीवन-दर्शन पर विश्वास करने वालों के समुदाय का नाम 'पारसी' है। वेद, पुराण या गीता के जीवन-दर्शन पर विश्वास कर अनुगमन करने वाले समुदाय का नाम आर्य या हिन्दू है। किसी न किसी जीवन दर्शन पर विश्वास करने वाला, उसे मानने वाला ही अपने पर विश्वास कर सकता है। जो किसी भी जीवन-दर्शन को नहीं मानता, वह अपने को भी नहीं मानता। जो अपने को मानता है वह किसी न किसी जीवन-दर्शन को अवश्य मानता है, किसी न किसी जीवन-दर्शन पर विश्वास अवश्य करता है। यदि वह किसी भी जीवन दर्शन पर विश्वास नहीं करता, तो वह विक्षिप्त है और विश्व के किसी भी समाज में रहने योग्य नहीं है। उस पर शासन करने के लिए उसके जीवन-दर्शन को जानना या पहचानना अनिवार्य होगा।

जीवन-दर्शन के सिद्धान्त मूलतः जिस भाषा में निबद्ध किये गये होंगे, उसकी वास्तविक आत्मा को पहचानने के लिए व्यक्ति उसी मूल भाषा में उन्हें पढ़ना अपना कर्तव्य समझता है। अतः बाइबिल के जीवन-दर्शन के अनुसार चलने वाले व्यक्ति बाइबिल को उसकी मूल भाषा हिब्रू में पढ़ना अपना कर्तव्य मानते हैं। कुरान के जीवन-दर्शन के अनुसार चलने वाले व्यक्ति कुरान को उसकी मूल भाषा अरबी में पढ़ना हितकर मानते हैं। अवेस्ता के जीवन-दर्शन के अनुसार चलने वाले पारसी अवेस्ता ग्रन्थ को उसकी मूल भाषा 'अवेस्ता' या पुरानी पर्शियन में पढ़ना ठीक समझते हैं। इसी प्रकार वेद या गीता के जीवन-दर्शन के

अनुगामी इन ग्रन्थों को इनकी मूल भाषा 'संस्कृत' में पढ़ना श्रेयस्कर समझते हैं। जीवन-दर्शनों के प्रकाशक इन सभी ग्रन्थों की शपथ लेने वाला व्यक्ति यदि इनकी भाषा से अपरिचित है, तो उसका शपथ लेना उसी प्रकार आत्मवञ्चना होगा, जिस प्रकार अंग्रेजी या फारसी न जानने वाले का इन भाषाओं में लिखे गये किसी अभिलेख या इकरारनामा पर हस्ताक्षर कर आत्मवञ्चना करना।

आर्य जीवनदर्शन की अनेक शाखाएँ हो गयीं। श्रीमद्भगवद्गीता के जीवनदर्शन पर सभी ने विश्वास किया है। श्रीमद्भगवद्गीता उन उपनिषदों और वेदों का सार है जिन्हें विद्वानों ने संसार के सभी ग्रन्थों से पुराना माना है। वेद ओर उपनिषदों की परम्परा को समझे बिना गीता जैसे बहुमूल्य ग्रन्थ-रत्न से उसके उस जीवन-दर्शन से भारत वञ्चित हो गया होता, जिसने संसार को प्रभावित कर रखा है। टर्की ने गीता पर इसलिए प्रतिबन्ध लगाना हितकर समझा क्योंकि वहाँ की जनता उसके जीवनदर्शन से प्रभावित होती चली जा रही थी। उसमें प्रतिपादित जीवनदर्शन मानव-मात्र का जीवनदर्शन है। उसमें अपने जीवनदर्शन को किसी पर थोपने का आग्रह अथवा दुराग्रह नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का उपदेश देने के अनन्तर अन्त में कहा—'यदिच्छसि तथा कुरु'='मैंने यह सब कुछ बता दिया, अब तुझे जो जँचे, वही तू कर। मेरा कोई आग्रह नहीं है।' इस प्रकार गीता का जीवनदर्शन प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी और निर्णायक बनने के लिए प्रोत्साहित करता है।

गीता के जीवनदर्शन को समझने के लिए उसकी परम्परा को समझना आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति केवल वैयक्तिक ज्ञान और बल पर, बिना परम्परा ( Tradition ) के न तो शिक्षित हो सकता है और न सामाजिक व्यक्तियों के सामने होड़ में ही टिक सकता है। इसलिए सारे संसार में परम्परा ( Tradition ) सर्वमान्य है। विश्व में आज जो कला, सङ्गीत, साहित्य, विज्ञान आदि देखने में आ रहे हैं वे सब परम्परा के आधार पर ही जीवित हैं। कोई भी व्यक्ति बिना परम्परा के विद्याओं में

दक्षता और कौशल प्राप्त नहीं कर सकता। परम्परा टूट गयी, तो ढाका की मलमल उड़ गयी। परम्परा को जाने बिना आज का वैज्ञानिक व्यक्ति उस मलमल को नहीं बना सकता। आगरा के किले में रखे बिना तेल डाले अखण्ड ज्योति वाले उस दीपक को परम्परा जाने बिना आज कोई नहीं जला सकता, जिसकी बत्ती को अंग्रेजों ने परीक्षा के लिए निकाल लिया था। आज का पथ-भ्रष्ट युवक इन सब तथ्यों को बिना समझे-बूझे परम्पराओं को तोड़ने में अपना गौरव समझता है। वह अन्धविश्वासों और शास्त्रीय परम्पराओं को एक समझ कर अपने सनातन जीवनदर्शन का सफाया करने में जुट गया है। उसने अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है। आज वह पंगु है और दिग्विहीन होकर भटक रहा है। वह इस धरती के जीवनदर्शन से दूर चला गया है। परम्पराओं के बोझ को फेंककर वह एकाकी दौड़ा चला जा रहा है। उस मृगमरीचिका की और दौड़ा जा रहा है, जहां से निराश तथा विमुख होकर पश्चिमी मानव भारतीय जीवनदर्शन के जलाशय की ओर सतृष्ण दृष्टि लगाये कदम बढ़ाता आ रहा है। यूरप में जाने पर हमें भौतिकतावाद की प्रधानता की निस्सारता समझ में आने लगती है।

विश्व के उल्लिखित सभी जीवनदर्शनों को आज तक सुरक्षित रखते आने की अपनी अपनी परम्पराएँ है। उन परम्पराओं की सहायता के बिना आज मानव इन जीवनदर्शनों से लाभान्वित नहीं हो पा रहा है। बाइबिल के जीवनदर्शन को पादरियों की परम्परा ने जीवित रखा। कुरान शरीफ में प्रतिपादित जीवनदर्शन को मुल्ला और काजियों की प्रतिपादन-परम्परा ने जीवित रखा। उसी प्रकार विश्व के पुरातनतम दर्शन को इस देश के त्यागी और तपस्वी ऋषियों की प्रतिपादन-परस्परा ने जीवित रखा। गीता जिन वेद और उपनिषदों का सार है, ऋषियों की परम्परा ने उन्हें भी आज के समाज को सुलभ कराया। जीवन-दर्शन के निधिभूत इन ग्रन्थों के अध्ययन और अध्यापन के लिए जहां आज भारतवर्ष और विदेशों में करोड़ों रुपयों का व्यय किया जा रहा है, उन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन को निःस्पृह त्यागी तथा तपस्वी

ऋषि बिना किसी प्रलोभन के अपने आश्रमों और गुरुकुलों के संचालन के लिए कभी किसी भी राजा का आश्रय नहीं लेते थे। उनके गुरुकुलों में चाहे सुदामा जैसा रङ्क हो या गीतादर्शन के उपदेष्टा श्रीकृष्ण जैसा ऐश्वर्यशाली व्यक्ति, सबको समान भाव से वैषम्य परित्यागपूर्वक शिक्षित किया जाता था। निर्धन ब्राह्मण द्रोणाचार्य और राजा द्रुपद एक साथ एक ही गुरु के आश्रम में बिना किसी भेद-भाव के विद्याभ्यास किया करते थे। किसी भी विद्यार्थी से फीस नहीं ली जाती थी। सभी को समानभाव से गुरु की सेवा करनी पड़ती थी। गुरु बिना किसी राजा के अनुदान के दस हजार विद्यार्थियों को भोजन और विद्या प्रदान करते थे। ऐसे गुरुओं को कुलपति कहा जाता था—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥

आपको आश्चर्य होगा कि उन निःस्पृह और त्यागी गुरुओं के पास दस हजार छात्रों को खिलाने के लिए द्रव्य कहाँ से आता होगा! उनके त्याग और उनकी तपस्या के कारण समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनके आश्रम में रहने वाले विद्यार्थियों को शिक्षा, गोचारण आदि करना पड़ता था। राजवर्ग या शासकवर्ग उन गुरुओं के संमुख सिर झुकाते थे, भय खाते थे। सही अर्थों में कुलपति ही देश के शासक थे।

आज के कुलपति दीक्षान्त समारोहों में मन्त्रियों को बुलाकर अपना और अपने विश्वविद्यालय का अहोभाग्य समझते हैं। अब विद्यार्थियों के आदर्श राजनेता हो गये हैं, कुलपति नहीं। जो शिष्यों पर शासन कर सकता है, वही सच्चे अर्थों में शासक कहा जा सकता है। आज शिष्य गुरुओं को नहीं मानता। उसका न मानना भी किसी सीमा तक ठीक है। त्याग, तपस्या और आदर्श चाहिए। शिष्य तो मानने को ही आता है, जीवन-दर्शन की खोज में ही आता है। आज भारतीय विद्यार्थियों की शिक्षा निरुद्देश्य है, आदर्शविहीन है, उसमें न चरित्र को स्थान है और न माता-पिता गुरु समाज एवं राष्ट्र के प्रति कर्तव्य की भावना है। वह स्वयं नहीं समझ पाता है कि किसे माने।

आज का शिक्षित नवयुवक अपने को श्मशान में परिव्यक्त बलीवर्द की भाँति किंकर्तव्यविमूढ, अकर्मण्य और दिग्विहीन पाता है। पाश्चात्त्य जगत् के ऐश्वर्य की चकाचौंध उसे अपनी ओर खींचती है किन्तु वह भारतवर्ष के वातावरण के प्रतिकूल है। भारतवर्ष के वातावरण के अनुकूल शिक्षा को शासकों ने तोड़-मरोड़ कर उपद्रुत कर डाला है। क्लर्क बनाने के कारखाने के रूप में विशिष्ट उद्देश्य को लेकर भारत में शिक्षा-संस्थाओं को स्थापित किया गया था। देश के शासन का ढाँचा तो अवश्य बदल गया पर उसका साँचा ज्यों का त्यों बना हुआ है। देश के स्वतन्त्र होने के साथ ही साथ शिक्षा के साँचे को बदलना था। इस देश की शिक्षा की लम्बी परम्परा को पुनरुज्जीवित करना था। जिस त्याग और तपस्या के जीवन का आदर्श लेकर महात्मा गाँधी ने सफलता पायी उस आदर्श की मूलभूत शिक्षा की सुदीर्घ परम्परा को पुनः प्रतिष्ठापित करने की आज आवश्यकता है। गीता-दर्शन की उस परम्परा के विना जीवनदर्शन को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। शासकों ने उस ऋषि-परम्परा की अब तक उपेक्षा की है, तो छात्रों ने शासकों की उपेक्षा की है।

वेदविद्या, योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र आयुर्वेद शल्यचिकित्सा, वृक्षायुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद(पालकाप्य),अश्वचिकित्सा(शालिहोत्र),नक्षत्रविज्ञान,धर्मशास्त्र, संगीतशास्त्र, राजशास्त्र,अर्थशास्त्र, कृषिशास्त्र,भूगर्भशास्त्र,शाकुनविज्ञान,रत्नविज्ञान,गणितविद्या,फलितज्योतिष,धातुविज्ञान,विमानशास्त्र(यन्त्रविज्ञान), स्वरविज्ञान,शब्दसंक्षेपविद्या,मन्त्रविद्या,तन्त्रविद्या,चौर्यशास्त्र,इतिहासविद्या, पुराणविद्या ( इतिहास, भूगोल तथा भारतीय संस्कृतिका विश्वकोष ), नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, मीमांसादर्शन, वैशेषिकदर्शन, बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, चार्वाकदर्शन, कामशास्त्र, छन्दःशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, धनुर्विद्या, वास्तुकला, मल्लविद्या, यन्त्रमातृका, रसायनशास्त्र, शिल्पशास्त्र, व्याकरण, निरुक्तशास्त्र, न्यायदर्शन, वेदान्तदर्शन आदि भारतीय शास्त्र-विद्याओं की जगजीवनमें उपेक्षा की गयी है। वाणिज्यकला-निपुण विदेशियों के मायाजाल में पड़कर भारतीय जनता इन विद्याओं से या तो पराङ्मुख हो गयी या

फिर इन पर अश्रद्धालु जब सारी जनता विदेशी बाजार की ओर उन्मुख है, विदेशियों ने देखा कि उनके बाजार ने प्रतिष्ठा पा ली है, तब उन्होंने और उनके कुछ भारतीय शिष्यों ने आयुर्वेदकी औषधियों को अंग्रेजी औषध के नाम पर भारत में खपाना प्रारम्भ कर दिया।

जलवायु की दृष्टि से भारतीय वातावरण में भारतीय औषधियाँ ही हितकारी होती हैं। न केवल भारत के अपितु संसार के कुछ रोग तो ऐसे हैं जिनकी आज तक कोई औषधि ही नहीं निकली। किन्तु उनके प्रतीकारार्थ भारत में जड़ी-बूटियाँ विद्यमान हैं। कायाकल्प के प्रयोग आज भी लाभप्रद हैं। पाला ( तुषार ) से फसल की रक्षा के लिए संसार में आज तक कोई भी विश्वसनीय आविष्कार नहीं हुआ। पाला से फसल के बचाव के लिए आधुनिक विधियों में मेड़ों पर धुआँ करना ही एकमात्र उपाय माना गया है। पर वह साध्य तथा विश्वसनीय नहीं है। यद्यपि संसार में इसका अद्यावधि आविष्कार नहीं हुआ, तथापि आयुर्वेद में ऐसी प्रक्रिया उपलब्ध है, जिसकी सहायता के द्वारा पाला से फसल का बचाव किया जा सकता है। विरोधी पदार्थों के भक्षण से नित्य-नवीन असाध्य रोग उत्पन्न हो रहे हैं। विरोधी पदार्थों के ज्ञान से इस प्रकार के रोगों से बचा जा सकता है और देश की जनता के बहुमूल्य जीवन और धन की रक्षा की जा सकती है। पर आयुर्वेद का प्रायोगिक ज्ञान परम्परा की रक्षा के बिना शनैः शनैः लुप्त होता चला जा रहा है। आयुर्वेद की परम्परा की रक्षा के बिना गीता के जीवनदर्शन को समझने में भी कठिनाई होती है। उसकी आत्मा को समझने के लिए सभी शास्त्रों की परम्परा सुरक्षित रखनी होगी। ऋषियों की यह परम्परा सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्थानभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में आज भी सुरक्षित है। नेपाल, बंगाल, उत्कल, गढ़वाल, उत्तरी भारत, जेजाकभुक्ति ( बुन्देलखण्ड ) पंजाब, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मद्रास ( द्राविड ) इत्यादि की जलवायु की भिन्नता के कारण वहाँ भिन्न-भिन्न वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः उस उस प्रदेश के ऋषियों की प्राचीन परम्परा को जीवित रखना देश के हित के लिए श्रेयस्कर होगा।

जब तक विदेशी भारतीय जनता को संस्कृत विद्याओं की उपयोगिता का प्रमाणपत्र न दे दें, तब तक उसे अपनी विद्याओं पर यहाँ तक कि स्वयं अपने पर विश्वास नहीं होता। हम आज पथभ्रष्ट हो गये, समाज का विश्वास हमने खो दिया। त्याग और तपस्या से हट गये। जनता की दृष्टि गुरुकुलों के भारतीय समाजवाद की ओर न जाकर रूस और चीन के समाजवाद की ओर जा रही है। हमारी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल हो गई है। गीता के जीवन-दर्शन में विश्वास रखने वालो! गीता की लम्बी परम्परा की उपेक्षा मत करो। उसके समन्वय के विना आज की जीवनधारा सफल नहीं हो सकती।

आज सारा विश्व मानसिक और शारीरिक रोगों से आक्रान्त है। योगशास्त्र की छत्रच्छाया में आया साधक इन दोनों से मुक्त होकर शान्ति प्राप्त कर सकता है। हमारा योगशास्त्र विश्व का आकर्षण-केन्द्र बना है। विदेशी धनाढ्य व्यक्ति योगशास्त्र की सहायता से मानसिक दक्षता बढ़ाने के लिए लाखों रुपये खर्च कर रहे हैं। पर भारतीय जनता अपनी परम्परा भूल गयी है। लगता है कि भारतीय जनता को अपने शास्त्रों का अध्ययन विदेशियों से ही करना पड़ेगा। इसके कच्चे माल को पक्का बनाकर वे निर्यात करेंगे।

योग की दिशा में भारत का ज्ञान विश्व के लिए आज भी नूतन है। पश्चिमी जगत् इस ओर नूतन अन्वेषण नहीं कर सका। किन्तु उसने योग के छठे अंग धारणा को लेकर मेस्मेरिज्म को जन्म दिया तथा मनोविश्लेषणकारक मनोविज्ञान की दिशा में नूतन उपलब्धियाँ की हैं। यद्यपि ये सब उपलब्धियाँ हमारे योगशास्त्र और पौराणिक योग की व्याख्याएँ हो सकती हैं, तथापि इस संपूर्ण नूतन ज्ञान को संस्कृत शास्त्र में पचाने हेतु संस्कृत माध्यम से प्रयत्न परमापेक्षणीय हैं। आनुसन्धानिक प्रक्रिया का आश्रय लेकर इस दिशा में कार्य कराये जाने चाहिए। पचाने की प्रक्रिया के विषय में भारतीय पद्धति का गम्भीरतम अध्ययन किया

जाना चाहिए। शास्त्रीय ज्ञान को अद्यतन बनाये रखने हेतु प्रत्येक भारतीय को संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होगा।

भारतवर्ष के सङ्गीत शास्त्र की जब पश्चिमी देशों में पर्याप्त ख्याति होने लगी, तब भारतीय जनता का ध्यान इस ओर गया है। यद्यपि हमारे ऋषियों ने इस विद्या की साधना की, उसमें रमण किया, जीविका के लिए इसका अध्ययन नहीं किया, वे इसकी साधना में ब्रह्मानन्द लाभ करते थे, तथापि आज इसका विकास करके भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति भी की जा सकती है। यह शास्त्र भी संस्कृत भाषा में निबद्ध है। भारतीय संगीत शास्त्र ने विश्व को आकृष्ट किया। मुगल बादशाहों के समय में इसका संवर्धन हुआ। साथ ही साथ इस शास्त्र में नृत्य, वाद्य तथा गीतों का चतुर्मुखी विकास हुआ। अनेक राग-रागनियों का सांकर्य हुआ। कुछ नये राग-रागनियों का भी प्रवेश हुआ और सांगीतिक ज्ञान आधुनिकतम हो गया। पर अपने शास्त्रत्व को बनाये रखने के लिए ये सभी समावेश संस्कृत के माध्यम से ही शास्त्रों में किये गये।

वास्तुकला की सहायता से भारतवर्ष में विशाल प्रासादों तथा मन्दिरों का निर्माण किया गया। इन मन्दिरों में वज्रलेप ( सीमेंट ) बहुत ही दृढ़ होते थे। उनके नष्ट हो जाने पर, उस स्थान की पूर्ति आधुनिक सीमेंट नहीं कर पाता। संस्कृत भाषा में निबद्ध शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से इसकी विधियों का पुनरुज्जीवन आवश्यक है। इस शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों के रचयिता लगभग १०८ ऋषियों का पता चला है। षष्ठ शताब्दी के वराहमिहिर की बृहत्संहिता में पक्का लोहा बनाने की अनेक विधियाँ दिखायी गयी हैं। दिल्ली के लोहस्तम्भ का लोहा अगणित शीतातप-वर्षाओं के थपेड़े खाकर आज भी उसी प्रकार निर्विकार बना हुआ है, जिस प्रकार स्थापना के समय था। इसी ग्रन्थ में भू-गर्भशास्त्र (जियालॉजी) की पर्याप्त जानकारी दी गयी है। भारद्वाज का 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ यन्त्रविद्या का अद्भुत ग्रन्थ है। इसके वैमानिक प्रकरण के दो अध्याय प्राप्त हुए है। इसमें विमान बनाने का

वर्णन है। इसके आधार पर महाराष्ट्र में विमान बनाया गया था। पर वाणिज्य कुशल विदेशियों ने उसका पेटेण्ट खरीद लिया। भारत में पुष्पक, त्रिपुर इत्यादि विमानों की परम्परा बहुत प्राचीन है। बहुत प्रयत्नों के अनन्तर वैमानिक प्रकरण के हस्तलेख मिले। इस प्रकार के हस्तलेखों का विपुल भण्डार अब भी अनेकत्र बिखरा पड़ा है।

इन सभी संस्कृत परम्पराओं को उज्जीवित करने का उत्तरदायित्व और भार नवयुवकों के सबल कन्धों पर है। वे आगे बढ़ें और प्रतिज्ञा करें कि अपने ऋषियों की परम्पराओं को यथापूर्व सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ाएँगे। भारतीय जनता संकल्प ले कि अपने ऋषियों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वह इस ओर स्वयं उन्मुख होगी और अपनी सन्तति को भी प्रेरित करेगी। स्वदेशी जीवन-दर्शन को चरितार्थ करने के लिए तदनुकूल आचरण की आवश्यकता है।

आज इस वैज्ञानिक युग में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। विज्ञान ने धर्मसंहिता, आचार-विचार आदि को झकझोर दिया है। पर इस सबसे धर्म के शाश्वत मूल्यों पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। आपका धर्म छुई-मुई नहीं है कि अंगुलि देखते ही अपने आप में सिमट जाए और न ही यह धर्म कछुआ धर्म है कि आक्रमण-मात्र की आशङ्का से ही अपने अङ्गों को सिकोड़ ले। भ्रान्ति से भारतीय जनता धर्मसंहिता या आचार-संहिता को धर्म समझ बैठती है और उसके बिगड़ने में धर्मनाश समझने लगती है। पर आज के प्रगतिशील युवक आचार-संहिता की अवहेलना में धर्म का नाश नहीं समझते। मुगलकाल में अपने यज्ञोपवीत और शिखा की रक्षा के लिए करोड़ों हिन्दुओं ने प्राणार्पण कर दिया था। पर प्राचीन परम्परा से दूर आज के भारतीय युवक शिखा को प्रसन्नता से कटाते हैं और यज्ञोपवीत को निरर्थक बताते हैं। यज्ञोपवीत धारण करने वाले अधिकांश भारतीय उसका उपयोग नहीं जानते। उसका उपयोग कुञ्जी बाँधने अथवा पीठ खुजलाने मात्र में समझते हैं। विवाह-संस्कार जैसे पवित्र अवसरों पर पैण्ट और सूट पहनकर संपूर्ण आचार-संहिता का पालन किया जाता है। अन्धानुकरण कर अपने जीवन-

दर्शन तथा परम्परा को सर्वथा भूलते जा रहे हैं। तमिलनाडु और बङ्गाल के परम्परावादी भारतीय चाहे वे कितने ही बड़े पदों पर प्रतिष्ठित क्यों न हों, ऐसे संस्कार-अवसरों पर भारतीय वेषभूषा में ही उपस्थित होकर अपनी परम्परा को सुरक्षित किये हुए हैं।

हमें अपने जीवनदर्शन तथा प्राचीन परम्परा के ज्ञान-विज्ञान के साथ नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय करना नितान्त आवश्यक है। प्राचीन भारत में भी इस प्रकार के समन्वय अथवा सांस्कृतिक विनिमय अवश्य हुए थे। जनता का दैनिक जीवनोपयोगी विज्ञान अपने में अपेक्षित सुधार करता रहता है। फलत: विश्व के विद्वानों में विनिमय होता है। भारतीय विज्ञानों में विदेशों से अनेक आदान-प्रदान हुए हैं। अत: आज के नूतन विज्ञान से आचार-संहिता के प्रभावित होने के कारण जनता को अपने जीवन-दर्शन और परम्परा से विमुख नहीं होना है।

हमारे जीवनदर्शन और परम्परा को सुरक्षित रखने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व माताओं पर है। बालक की प्रथम पाठशाला माता की गोद है। संपूर्ण विश्व का प्रथम गुरु माता है। अत: स्मृतिकार भगवान् मनु ने माता को पिता से हजार गुना श्रेष्ठ बताया है—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥ २, १४५

अत: बालक के चरित्रनिर्माण में तथा अच्छे संस्कारों को ढालने में माता की प्रधान भूमिका रहती है। एतदर्थ जो भी समाज अथवा देश अपनी जनता को जैसा बनाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वहाँ की कन्याओं को उसी प्रकार का बना दें। ईसवीय चतुर्थ शताब्दी से षष्ठ शताब्दी तक गुप्तकाल में पुराणों का पुनर्घटन तथा नव-निर्माण हुआ था। उस समय चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने वैदिक सभ्यता को पुनर्जीवन दिया। माताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपनी संतति के कोमल हृदय पर बाल्यावस्था से ही संस्कृत स्तोत्रों और प्रार्थनाओं के संस्कार डाल दें। संसार के महापुरुषों को महापुरुष बनाने का श्रेय उनकी माताओं को ही है। वह दुर्गा है, सरस्वती है, चण्डिका है, जगज्जननी है और पृथ्वी के समान सर्वंसहा भी है।

ज्ञान अथवा विद्या प्राप्त करने के लिए, स्वाध्याय को प्रतिदिन प्रवर्तित रखने के लिए ऋषियों और मुनियों ने अनन्य साधारण तप और त्याग का व्रत लिया था। तभी वे विद्यादान के अधिकारी होते थे और संप्रति भी हैं। विश्व में दूसरा ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं है कि बिना किसी प्रलोभन के अपने पूर्वजों की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए हजारों वर्षों से कोई जाति एक विशाल ग्रन्थ-राशि को सस्वर कण्ठ रखे आयी हो। अपने त्याग और तपस्या के बल पर अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धा और विश्वास के कारण उसने यह कार्य किया। अन्यथा विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भाँति वैदिक सभ्यता का भी लोप हो गया होता। आप आश्चर्य करेंगे कि ऋषि सन्तान के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति सस्वर वेद को कण्ठस्थ करने में असमर्थ रहा है। पूर्व-काल में आपद्धर्म के रूप में यद्यपि क्षत्रिय और वैश्य भी अध्यापन कार्य कर सकते थे और क्षत्रिय तथा वैश्यों का कार्य ब्राह्मण भी करते थे, तथापि ज्ञान की, विद्या की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी। विद्यावान् को बुध कहते हैं। विशेष बुध होने पर वही विबुध अर्थात् देवता बन जाता है।

मनु (२१५४) कहते हैं कि अवस्था (उम्र) से, सफेद बालों से, धन से और बन्धुओं से कोई बड़ा नहीं होता। ऋषियों की व्यवस्था के अनुसार बड़ा तो वह है जो साङ्ग वेदों का अध्येता है—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

जो विप्र अध्ययन नहीं करता, वह उसी प्रकार नाम का विप्र होता है, जिस प्रकार लकड़ी का हाथी तथा चमड़े का बना हरिण नाम-मात्र के लिए हाथी और हरिण कहा जाता है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
तथा विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

आज के वाणिज्य-प्रधान युग में उच्चता का मानदण्ड ज्ञान अथवा विद्या को न मानकर धन को मान लिया गया है। ज्ञान साध्य है और धन साधन। किन्तु धन को साध्य मान लेने पर कलह और युद्धों का

प्रचण्ड ताण्डव स्वाभाविक है। ऋषि और मुनियों के जीवन-दर्शन के अनुगामियों का कर्त्तव्य है कि वह विवाह आदि संस्कारों में तथा परस्पर व्यवहार में इसी मान दण्ड को रखें, तभी वे समाज में आदर्श स्थापित कर सकेंगे। विद्या से कोसों दूर रहने वाले की श्रेष्ठता उसके पूर्वजों की श्रेष्ठता के कारण नहीं मानी जानी चाहिए। मनु ने ऐसे संस्कार-विहीनों को व्रात्य (=संस्कारहीन) कहा है।

परम्परा के परिपालन के लिए भारतीय जीवन-दर्शन को समझने के लिए सम्पूर्ण समाज का समन्वय अपेक्षित होगा। सम्पूर्ण शरीर की सहायता के बिना केवल मस्तिष्क कार्य नही कर सकता। यज्ञ अथवा पुण्य कार्यों के सम्पादनार्थ संपूर्ण समाज की अपेक्षा होती है। संपूर्ण समाज में विश्वास जगाना है और सबको साथ लेकर चलना है। ऋग्वेद के अन्त में यही उपदेश है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं सह मनः चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥३॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥४॥

साथ चलो, साथ बोलो=परस्पर विरोध छोड़कर एक प्रकार का वाक्य बोलो, तुम लोगों के मन एकरूप अर्थ को समझें। जिस प्रकार पुरातन देव ऐकमत्य रखकर हविर्भाग स्वीकृत करते थे, उसी प्रकार तुम लोग भी वैमत्य छोड़कर धन स्वीकृत करो ॥ १ ।

गुप्त भाषण समान हो, प्राप्ति भी समान हो। मनन का साधन सबका अन्तःकरण ( =मन) समान हो। चित्त=विचारज ज्ञान समान हो। तुम लोगों के समान मन्त्र को चित्त की एकविधता के लिए संस्कृत करता हूँ ॥ २ ।

तुम लोगों का संकल्प अथवा अध्यवसाय समान हो। तुम्हारे हृदय समान हों और तुम्हारा अन्तःकरण भी समान हो ॥ ३ ।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह संस्कृत के द्वारा संस्कारवान्, योग्य बनकर देश की कीर्ति बढ़ाए। योग्य व्यक्तियों के समुदाय से योग्य जाति, योग्य जातियों के समुदाय से योग्य समाज और योग्य समाज के समुदाय से देश उन्नत प्रतिष्ठित और गौरवान्वित होता है। प्रत्येक व्यक्ति जाति समाज और राष्ट्र की समुन्नति एवं सफलता के लिए सबको श्रद्धा, विश्वास और यत्न का अवलम्बन लेना है। सफलता रूपी चिड़िया के दो पंख हैं श्रद्धा और विश्वास। यत्न ही उसकी उड़ान है।

श्रद्धायत्नौ यदि स्यातां मेधया किं प्रयोजनम्।
तावुभौ यदि न स्यातां मेधया किं प्रयोजनम् ॥

—×—

## वर्तमान युग में नैतिकता-शिक्षण की व्यवस्था

यह नैतिकता-शिक्षण विद्यालयों में होगा अथवा घरों में ? विद्यालयों के शिक्षण से संस्कार-दार्ढ्य नहीं होगा। बालकों के प्रथम शिक्षक माता पिता होते हैं। यदि उक्त नैतिकता-शिक्षण घरों में होगा, तो क्या अभी भारतीय जनता अनैतिक है और नैतिक शिक्षा से वञ्चित है ? यदि यह बात ठीक है कि अद्यतन भारतीय जनता नैतिकता-शिक्षा से वञ्चित है, तो इसका मूल कारण क्या है ? वह कितनी शताब्दियों से

नैतिकता-शिक्षा से वञ्चित है ? क्या प्राचीन काल में नैतिकता की शिक्षा देनेके लिए विद्यालय या शिक्षक होते थे ? बिना शिक्षकों के भारतीय समाज किस कारण नैतिक था ? उसका मूल कारण क्या था ? इस सब पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है—"राजा कालस्य कारणम्" इत्यादि। यह उक्ति बहुत दूर तक की बात बताती है। प्रजा के धर्म और अधर्म के लिए यहाँ तक कि पूरे युग के लिए राजा ही उत्तरदायी हुआ करता था। भारतीय इतिहास में इसके विषय में अगणित उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। प्रकृत में उक्त उक्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि धर्म, अधर्म, नैतिकता-शिक्षा इत्यादि को जनता में लागू करने के लिए, इनके परिपालनार्थ उसे बाध्य करने के लिए राजा ही उत्तरदायी और कारण होता है।

ऋषि स्मृतियों का प्रणयन करते थे। स्मृतियाँ संस्कृत में निबद्ध हैं। उत्पत्ति से मरणपर्यन्त मानव का आचरण कैसा होना चाहिए, उनमें निर्दिष्ट रहता था। ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा राजा तक के आचारों का उनमें उल्लेख रहा करता था। राजा स्मृति-निर्दिष्ट आचारों का स्वयं परिपालन करता था तथा जनता को पालन.कराने हेतु आदेश प्रसारित करता था। न्यायालय में निर्णय स्मृतियों के आधार पर लिये जाते थे। इस प्रकार स्मृति-निर्दिष्ट आचार-और नैतिक बन्धनों में मानव रम गया था। उनको मानव ने पहले तो बाध्य होकर, पश्चात् अभ्यास वशात् जीवन में उतार लिया।

स्वदेशी शासन ने आचारसंहिता के रूप में आधुनिक दायसंहिता की रचना कराई। इस संहिता में स्मृतिगत आचार और नैतिकता-मूल्यों के परिपालनार्थ कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा गया। नैतिक मूल्यों से दूर हटने वाले व्यक्ति को पितृदाय से वञ्चित नहीं किया गया। इस प्रकार जन्मतः शिक्षणशील मानव को नैतिक मूल्यों के प्रतिबन्धों से मुक्त करने के कारण वह स्वच्छन्दतावादी बन गया। नैतिकता-मूल्यों का ह्रास आधु

निक दायसंहिता के निर्माण के अनन्तर ही प्रारम्भ हुआ और सम्प्रति दिनानुदिन होता चला जा रहा है। इस बिल में नैतिक जीवन-दर्शन का पूर्ण उल्लेख आवश्यक है। नैतिकताविहीन व्यक्ति को दाय से वञ्चित करने के नियम बनने चाहिए। आश्चर्य है कि सम्प्रति भारतीय संविधान में नैतिकता-मूल्यों का कोई उल्लेख नहीं है। इसमें मानव-धर्म का संनिवेश संस्कृत माध्यम से अनिवार्यतया होना चाहिए ताकि वह पूर्ववर्ती ज्ञानशृङ्खला की कड़ी सिद्ध हो सके।

जिस प्रकार बालक अपनी माता के दूध के साथ ही साथ उससे भाषा भी अनायास सीखता जाता है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में वह मानव-धर्म को भी इसी प्रकार सीखता जाता था। बड़ा होने पर उसे भाषा के परिष्कार आदि के लिए शिक्षण दिया जाता था, उसी प्रकार धर्म आदि के परिष्कार के लिए भी शिक्षण दिया जाता था।

आज बालक माता के स्तन्य-पान के साथ भाषा तो सीखता है, पर मानव-धर्म एवं नैतिक मूल्य नहीं। हिन्दु कोड बिल, वर्तमान शिक्षा, धार्मिक और नैतिक व्यक्तियों की अपेक्षा नेताओं की पूजा तथा पाश्चात्त्य संस्कृति के प्रभाव ने भारतीय जनता को धर्माचरण तथा नैतिक मान्यताओं से दूर हटा दिया। नैतिक मान्यताओं को पुनः प्रतिष्ठापित करने लिए प्राचीनकाल की स्मृतियों की भाँति जनता के जीवन में नैतिकता की युगानुरूप मान्यताओं की अनिवार्यता करनी होगी। मानव का जीवन-दर्शन उन्हीं के आधार पर चलाना होगा। धर्म तथा नैतिकता-मूल्यों के पुनरुद्‌बोधन और उनके परिष्कार के लिए विद्यालयों में शिक्षा के साथ-साथ जीवन-धर्म एवं नैतिकता-मूल्यों की व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिए। मानव-धर्म तथा नैतिकता-मूल्य व्यावहारिक जीवन से पृथक् न हों। यह तभी सम्भव है, जब माता से अपने दूध के साथ और पिता से अपने स्नेह के साथ बालक को उसके जीवन में आचार एवं नैतिकता-मूल्यों की शिक्षा प्राप्त होती रहे, जैसी कि प्राचीनकाल में थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन गुरुकुलों की परिपाटी चलायी जाए जहाँ विद्यार्थियों को प्राचीन गुरुकुलों की भाँति व्यावहारिक रूप से आचरण तथा नैतिकता-

मूल्यों की शिक्षा मिला करे। फलतः वे स्नातक विद्वान् होने के साथ-साथ नैतिक एवं धार्मिक नागरिक बनकर अपनी संतति को इस योग्य बना सकें।

मानव-धर्म तथा संस्कृति के सभी व्यवहार जीवन-साधक होते हुए भी आज व्यावहारिक जीवन में नहीं उतारे जा रहे हैं। इसमें बाधक है आज की दायसंहिता एवं माता पिता और गुरुजनों का धार्मिक एवं नैतिक-मूल्यों के प्रति व्यावहारिक रूप से औदासीन्य रखना। शासन द्वारा संविधान आदि में नैतिक-मूल्यों का समावेश नहीं किया गया है। फलतः आज का समाज नैतिकता-मूल्यों के भक्त व्यक्ति को मूर्ख समझता है। समाज से इसकी जड़ें उखड़ चुकी हैं। यदि जनता उन जड़ों को गहराई तक ले जाना चाहती है, तो संविधान में तथा दायसंहिताओं में नैतिकता-मूल्यों का समावेश उसे संस्कृत भाषा के माध्यम से अनिवार्यतया कराना होगा।

### धर्म एवं राजनीति का समन्वय

ऊपर बताया जा चुका है कि स्मृतियों द्वारा ही धर्म-परिपालन तथा राज्यपरिपालन के लिए नियम निर्धारित किये जाते थे। अतः प्राचीन संस्कृति में राजनीति धर्मविहीन नहीं हुआ करती थी। आज मानव उस भाषा से अनभिज्ञ हो गया है, जिसमें प्राचीन संस्कृति का रूप निबद्ध है। अतः संस्कृत भाषा का शिक्षण सभी के लिए अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। माता-पिता और गुरुजन दैनिकचर्या में कुछ संस्कृत स्तोत्र तथा कुछ नीति-श्लोकों के पाठ का नियम बना लें। इस प्रकार बालक-बालिकाओं का इस नीति-भाषा के प्रति हृदय में अनुराग स्वयं उत्पन्न हो जाएगा।

●

## संस्कृत भारत की दृष्टि है

भारत की भौगोलिक सीमाओं की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर संस्कृत पढ़ना प्रत्येक भारतीय जन का अनिवार्य कर्तव्य है। संस्कृत के इतिहास-पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में भारत भू-भाग का चप्पा-चप्पा वर्णित है। सम्पूर्ण भारत में तीर्थों का जाल फैला है, संस्कृत के ग्रन्थोंसे ही इनकी स्थिति का वास्तविक ज्ञान हो सकता है। विशिष्ट स्थानों पर देवी-देवताओं के सिद्ध पीठ बनाये गये हैं, जो भौगोलिक दृष्टि से भी विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। हिंगलाज और वाकू की देवी तथा सुमेरु पर्वत की भौगोलिक स्थिति देखकर आपको विदित होगा कि संस्कृत का भू-भाग कितना विस्तृत था ! किन्तु संस्कृत का पल्ला छोड़ देने के कारण यह भूभाग दिनानुदिन कितना सिकुड़ता चला गया ! हमारी सरस्वती नदी हरस्वती > हरहती के रूप में कहाँ विराजमान है। हमें आज अपने विस्तृत संस्कृत भारत का न तो गौरव है और न जिज्ञासा ही। भारतीय जनता संस्कृत विमुख हो रही है, भारतीयता से विमुख हो रही है, भारतीय संस्कृति को तिलांजलि दे रही है। आज भारतीय जनता ही देश की शासक है। 'उत्तिष्ठत जाग्रत' = उठो, जागो।

कोई भी भाषा भाषण से बनती है। संस्कृत भाषा विशाल भारत के विस्तृत भूभाग की बोलचाल की भाषा थी। किसी भी समृद्ध भाषा की सम्पूर्ण शब्दावली लेखबद्ध नहीं हो पाती। काव्यों, महाकाव्यों तथा साहित्य की अन्य विधाओं में परिष्कृत और छने हुए शब्द ही गृहीत हो पाते हैं। संस्कृत वाङ्मय की विशालता की सानी यद्यपि विश्व का कोई वाङ्मय नहीं रखता, तथापि उसके वाङ्मय से अतिरिक्त संस्कृत के नये-नये शब्द अब भी प्राप्त होते जाते हैं। बोलचाल की भाषा का अधिकांश भाग जनजीवन में रचा-पचा होता है। संस्कृत भाषा की शब्दावली का बहुत बड़ा भाग बोलचाल का रहा। इतिहास, पुराण इत्यादि वाङ्मय में

उसका सम्पूर्ण रूप से समाहरण कैसे सम्भव होता! वह संस्कृत भाषा पालि प्राकृत और अपभ्रंश के स्तरों से गुजरती हुई सम्प्रति प्रादेशिक भाषाओं में खप गई है। कुछ शब्द तो अद्यापि अपरिवर्तितावस्था में पाये जाते हैं। प्रायोगिक रूप में जो प्राचीन विधाएँ आज भारतीय जनजीवन में जीवित हैं, उनके शब्द या तो संस्कृत के तत्सम हैं या तद्भव। ऐसी अधिकांश शब्दराशि विद्यमान संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर नहीं होती। संस्कृत वाङ्मय का अधिकांश भाग नष्ट भी हो गया है। प्रादेशिक भाषाओं में जीवित विद्याओं की शब्दावली के आधार पर संस्कृत विद्याओं की शृङ्खला को विस्तृत किया जा सकता है। संस्कृत वाङ्मय के बौद्धदर्शन का अधिकांश भाग विदेशों में चला गया। उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा वहीं जीवित रही। फलतः भारत ने अपने उस वाङ्मय का मूल रूप नष्ट कर दिया। मंगोलिया, चीन तथा तिब्बत में इस प्रकार का वाङ्मय प्राप्त है किन्तु वह वहाँ की भाषा में ही उपलब्ध है। तिब्बती ग्रन्थ-भाषा में उपलब्ध संस्कृत के बौद्धदर्शन का कुछ अंश श्लाघ्य प्रयत्नों के द्वारा संस्कृत में पुनः रूपान्तरित किया गया है। किन्तु इतने विशाल संस्कृत वाङ्मय के क्षेत्र में यह प्रयत्न ऊँट के मुँह में जीरा है।

हिमालय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसके सम्पूर्ण स्थानों की नामावली संस्कृत के उपलब्ध वाङ्मय में नहीं दीखती। यह स्वाभाविक भी है। अपने पूर्वजों के प्रयत्नों पर ही भारतीय जनता निर्भर रहना चाहती है। वह उनके रचे वाङ्मय के आगे परिश्रम करके संस्कृत विद्या की शृङ्खला की कड़ियों को बढ़ाने की बात तो दूर उन्हें मजबूत करना भी नहीं चाहती। उसने अभी 'स्व' के महत्त्व को पहचाना नहीं है। हिमालय भारतीय ऋषियों की तपःस्थली रहा आया है। अतः वहाँ के सभी स्थलों के नाम ऋषिप्रदत्त होने चाहिए। किन्तु साश्चर्य खेद है कि संस्कृत की उपेक्षा के कारण भारतीय जनता उस समय मौन धारण कर लेती है, जब विदेशी व्यक्ति हिमालय के क्षेत्र-विशेष को अपना क्षेत्र बताने का दुस्साहस करते हैं। आइए, हिमालय के

कुछ स्थलों सिद्धपीठ और भाषा से परिचित होइए। आपकी दृष्टि उन्मिषित होगी कि भारतीय जनता को संस्कृत पढ़ना क्यों अनिवार्य है।

वैज्ञानिकों की मान्यता है कि आज जहाँ हिमालय पर्वत अवस्थित है, वहाँ किसी युग में एक विशाल महासागर लहराता था, जो समस्त भूमण्डल को उत्तरार्ध तथा दक्षिणार्ध दो भागों में विभक्त करता था। कालान्तर में दबाव पड़ने के कारण एक ओर का सिरा उठने लगा तथा धीरे-धीरे रेणुकण एकत्र होने से पर्वतमालाओं की रचना होने लगी। इनमें तीन चार हजार फीट वाली पूरे हिमालय तक फैली हुई शिवालिक पहाड़ियाँ बारह हजार से लेकर पन्द्रह हजार फीट वाली पर्वत मालाएँ तथा बीस हजार फीट ऊँचे बर्फीले पर्वतशिखर हैं। इनमें भी गौरीशंकर ( एवरेष्ट कहना अनुपयुक्त है ) का शिखर उच्चतम है।

संस्कृत वाङ्मय में उल्लिखित 'कैलास' शब्द की व्युत्पत्ति होगी— के=जले, लासः—लसनम्=दीप्तिः अस्य=जल के मध्य चमकने वाला, कान्तिमान्। हिमालयवर्ती क्षेत्र विश्व-सृष्टि में एक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठान है। शनैः शनैः उसका आभोग बढ़ने लगा। भूतनाथ शंकर ने उसे तपोभूमि का रूप दिया—

"महेशो हिमवद्-द्रोण्यां तताप परमं तपः" (स्कन्द पु० १।२१।२)। सम्पूर्ण हिमालय पर्वत तक फैली पाँच मील से लेकर तीस मील तक चौड़ी शिवालिक पहाड़ियों में ऋषि-महर्षियों के आश्रमों का जाल बिछा था। ये ऋषि-महर्षि महेश्वर के दर्शनार्थ आते जाते रहते थे। कैलास के उत्तरी पूर्वी तथा पश्चिमी भाग में भगवान् शंकर ने अपने अनुचर वर्ग को आबाद किया था। हिमालय ने उन्हें स्थान दिया (स्कन्द पुराण १,२४,६७;७४)—

गन्धर्वयक्षाः प्रमथाश्च सिद्धा देवाश्च नागाप्सरसां गणाश्च।
वसन्ति यत्रैव सुखेन तेभ्यः स तत्र तत्रोपवनं चकार॥
तत्रैव ते सर्वगणैः समेता निवासितास्तेन हिमाद्रिणा स्वयम्।
सेन्द्राः सुरा यक्षपिशाचरक्षसां गन्धर्वविद्याप्सरसां समूहाः॥

ऋषियों की सन्ततियाँ हिमालय के दक्षिणी मैदान की ओर फैलने लगीं। शूली ने अपने तपकी शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से तपःपूत ऋषियों को कैलास के निकट प्रश्रय दिया। दक्षिणी क्षेत्र के शासन की समुचित व्यवस्था करने के निमित्त हिमालय पर ही विश्वविद्यालय खुले। महर्षि व्यास का निवास हिमालय पर था। यहीं सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेदाभ्यास किया करते थे। हिमालय पर्वत पर बने विश्वविद्यालयों में दूर-दूर से विद्यालिप्सु आते थे। जिन पर शम्भु प्रसन्न हो जाते थे, उन्हें वे स्वयं चतुर्दश विद्याओं को देने के लिए कटिबद्ध रहा करते थे। परशुराम खण्डपरशु के अनन्य भक्त थे। वहाँ विद्याभ्यास करते हुए उन्होंने कार्तिकेय के साथ प्रतिस्पर्धा में क्रौञ्च पर्वत को बाण से छिद्रान्वित कर दिया था। बाण द्वारा बने इसी मार्ग से हंस मानस-जलाशय आया-जाया करते हैं। इसी हिमालय पर कुलपति (चांसलर) वशिष्ठ का आश्रम था। दिलीप जैसे शिष्य उनकी नन्दिनी धेनु को देवदारु-तरु-ततियों से परिवेष्टित कन्दराओं तक चराने ले जाते थे।

इधर हिमालय के दक्षिणी भाग में अर्थ तथा काम की साधना में निरत संततियों का बहुत विस्तार हो गया। तब मनु महाराज ने स्मृति रचकर पुरातन व्यवस्थाओं के तत्त्वावधान में नवीन व्यवस्थाओं का उपक्रम बाँधा। अधिकांशतः विजिगीषु जन ऐश्वर्य-सम्पन्न हिमालय की ओर आश्रय लेना चाहते थे। इस बीच ऋषियों ने व्यवस्था दी कि सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले को 'इन्द्र' उपाधि से विभूषित कर कैलास के उत्तरी तथा पूर्वी पठार का अधिकार दिया जाए। तपोदीप्त तथा स्तुति-परायण जीवों को देवत्व उपाधि से मण्डित कर इन्द्रपुरी त्रिविष्टप > तिब्बत में आश्रय दिया जाय ( स्कन्दपुराण १,२७,४९ )—

सुखिनः स्याम सर्वे वै निर्भयाश्च त्रिविष्टपे।

वहीं भूतपति का गुणगान करते हुए उन्होंने उद्घोष किया (स्कन्द-पुराण १,२२,७)—

नमो रुद्राय देवाय मदनान्तकराय च।<br>
भर्गाय भूरिभाग्याय त्रिनेत्राय त्रिविष्टपे॥

जिस स्थान पर उन्होंने पशुपति की स्तुति की, उस स्थान को त्रिनेत्र रुद्र के नाम पर 'रुद्राक्ष' >लुद्दाख >लद्दाख की संज्ञा प्रदान की। वही 'रुद्राक्ष' आज का लद्दाख है। त्रिलोचन के सम्पर्क के प्रताप से हिमालय जन-जन में चर्चा का विषय बन गया (स्कन्द पुराण १,२७,२०)—

शिवसम्पर्कजेनैव महसा परमेण च।
विख्यातो हि महाशैलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥

कुछ महत्त्वाकाङ्क्षियों ने त्रिविष्टप तथा कैलास की ऐश्वर्य-सम्पन्नता पर मुग्ध होकर नियमों ( अश्वमेध यज्ञ, तप आदि ) के क्लेश उठाये बिना चोरी-चोरी देव बन जाना चाहा। वे हिमालय की ओर भागे। कुछ उसे पार कर और भी उत्तर चले गये। कुछ उत्तरपूर्व तथा उत्तरपश्चिम की ओर बढ़े। उन्होंने न तो विद्याभ्यास कर अपने को सुसंस्कृत किया था और न तपोबल से तेजस्वी ही बन पाये थे। ऐसे हड़बड़ाने वाले लोगों को मनु महाराज ने 'म्लेच्छ' संज्ञा दे रखी थी। पाणिनि का भी धातु है—म्लेच्छ=अव्यक्ते शब्दे। इस लघुता के कारण इन्हें चीन कह दिया गया। चीन का तात्पर्य है—छोटा ( णायाधम्म कहासुत्त १,८–पत्र १३३ )। पार्वतीपति ने वहाँ से खदेड़ने का प्रतिषेध करके इन्द्रपुरी के प्रलोभन में हिमालय के पिछवाड़े पहुँचे इन लोगों को वहीं बस जाने की अनुमति दे दी। संस्कारच्युत होने के कारण इन्हें पहले तो शूद्र और सुधार न दिखने पर पीछे दस्यु घोषित कर दिया गया ( मनु० १०, १४; ४३; ४५)—

पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खसाः॥
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
मुखबाहूरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

दीनों पर आशुतोष परम दयालु हैं। उन्होंने लुप्तक्रिय किरात—आदि को हिमाद्रि के एक भाग में स्थान दिया, पर चीनी उनके पिछवाड़े

पड़ने से कृपा-वञ्चित रह गये। वे अपने अव्यवहार तथा आचार-हीनता पर पश्चात्ताप करने लगे। उनके इस अनुताप से द्रवीभूत महेश्वर ने उन पर कृपा किरण बिखेरी। सम्राट् चाओ ( १६०१ ई० पूर्व ) ने अपने राज्य-काल में चौबीसवें वर्ष के चतुर्थ मास की अष्टमी को एक प्रकाशमयी मूर्ति सामने खड़ी देखी। इसका फल पूछे जाने पर सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वेत्ता सूथियेन (<सुतीक्ष्ण) ने बतलाया—"एक सहस्र वर्षों के पश्चात् इस देवात्मा का सिद्धान्त इस देश में आएगा" (चाऊ वंश के सम्राटों के चमत्कारों का ग्रन्थ—( ११२२–२५ ई० पू० )।

इस बीच उनकी शुद्ध बुद्धि को जान इन्द्रपुरी-वासी कुछ किम्पुरुषों ने चीन में पदार्पण किया। उन्होंने उस स्थान का नाम कुबेर के नामपर 'एकपिङ्ग' रखा। उनके मधुर पिक-कण्ठों से वह जनपद कोकिल-कल-कूजन सा प्रतिध्वनित हो उठा। अतः देव-वृन्द ने उसे 'पिकाङ्ग' संज्ञा प्रदान की। वह सम्प्रति 'एकपिङ्ग>' ( इ-क-विपर्यय ) किपिङ्ग> ( कि-पि विपर्यय )>पिकिङ्ग एवं पिकाङ्ग>पीकङ्ग>पीकिङ्ग के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ भगोड़ों ने घूमकर कुछ दिन पश्चिमोत्तर हिमालय में रहकर यह जता दिया कि वे कर्म बिना देवत्व नहीं चाहते। अतः त्रिविष्टप से दूर हैं। ऋषियों ने प्रसन्न होकर उनके इस कर्म को अक्षय-पुण्य-चिह्न कहा। तब से वह भाग अक्षय्यचिह्न की संज्ञा से विख्यात हुआ। आज उसे लोग अक्षय्य-चिह्न>'अक्साय चीन्ह'> अक्साइचीन के नाम से पहिचानते हैं।

कैलास के आसन्न-पार्श्व किम्पुरुषों का निवास था ( श्रीमद्भागवत ४।६।३१ )। यह स्थान वर्तमान तिब्बत है। वस्तुतः असली त्रिविष्टप और भी आगे ऊँचाई पर अवस्थित है। ज्ञात तिब्बती भाग तो त्रिविष्टप की सीमा से संसक्त होने के कारण लक्षणया त्रिविष्टप>तिब्बत कहाने लगा है। आजकल हम उन किम्पुरुषों को किम्पुरुष>किम्पो> खिम्पो>खेम्पा एवं गैम्पा ( पो ) के नाम से जानते हैं। ई० पू० पाँचवी छठी शताब्दी में कोसलराज प्रसेनजित् ने वहाँ जाकर अपनी परम्परा की

नींव डाली। यही प्रसेनजित् 'श्रवण वचन > स्रोङ्-वचन' के पूर्वज थे। सातवीं सदी में श्रान्ति-सङ्ग-किम्पुरुष > स्रोत्साङ्ग गैम्पो त्रिविष्टप के शासक थे। ६४१ ई० में चीन के राजा 'चित्सुख लूनतक्षण' > चित्सुङ् लुन्तसान ने अपनी पुत्री 'वेणुसङ्ग' > वेनचङ्ग का उद्वाह तथा नेपाल के राजा अंशुबर्मन ने अपनी कन्या भृकुटी देवी का पाणिपीडन त्रिविष्टप के राजा गैम्पो के साथ किया। इन दो सम्बन्धों के पूर्व त्रिविष्टप-वासियों ने बौद्ध धर्म का नाम तक नहीं सुना था। इसका कारण हिमालय इत्यादि भागों का तपस्योचित शान्त वातावरण था (महाभारत ३।३७।४६)। कैलास ओर गन्धर्व देश ( वर्तमान तिब्बत के ही बगल में मानस-सर तथा ऋषिकुल्याएँ थीं( महाभारत २,२८,४–५ )—

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम्।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दन॥
सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्तदा॥

त्रिविष्टप से कुछ दक्षिण चार सौ फीट की ऊँचाई से वसुधारा गिरती है। पौराणिक कथानुसार युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के अवसर पर वसु आदि देववृन्द ने यहाँ युधिष्ठिर का अभिषेक किया था। अतः उसका नाम वसुधारा पड़ा। अलकनन्दा की यह उद्भवस्थली प्रकृति-चारुता में पगी है। बदरीनाथ की यात्रा में अलकनन्दा सर्वत्र दर्शनीय है। इसीके उस पार 'माणा' ग्राम अवस्थित है। माणा में ही एक पहाड़ी पर व्यास और गणेश की गुफाएँ हैं। जनश्रुति से अनुसार महर्षि व्यास ने यहीं महाभारत प्रभृति ग्रन्थ लिखे तथा वेदों का प्रतिसंस्कार किया। इसी के पास गणेश गुफा है। लेखन कार्य के निमित्त व्यास जी ने शंकर-सुत गणेश जी को अपना सहायक बनाया था। व्यास गुफा के पार्श्व-भाग से प्रवहमान सरस्वती की धारा माणा ग्राम के किनारे अलकनन्दा में विलीन हो जाती है। सरस्वती के उभयतः उन्नतभाल नर नारायण शिखर खड़े हैं। यह माणा व्यास की माला है। माला > माळा > माणा। यही माला वर्णविपर्यय से "लामा" बन गई और तिब्बती धर्माचार्य

माला चलाते-चलाते लामा कहाने लगे। देशीनाममाला में लामा का अर्थ 'डाकिनी' बताया है ( ७।२१ )। कैलास-निकेतन वृषकेतन का यह गण-विशेष प्रसिद्ध है ( स्कन्दपुराण १,३,५१ )—

शाकिनी डाकिनी चैव भूतप्रमथगुह्यकाः।

शंकर के गणों, आश्रितों की पार्श्व-भूमि तथा अश्वमेध-मख-शतकों का परिणाम यह त्रिविष्टप ज्ञान-धारा के उद्गम के कारण भारत का मस्तिष्क-समन्वित मस्तक है। हमारे उच्चकोटि के कलाकार ( किन्नर आदि ) सिद्ध महापुरुष एवं विद्वानों के आवास का यह गढ़ रहा है। इसके बिना भारत मस्तिष्कविहीन जैसा है। किसी समय भूतनाथ के भूतगणों [ =प्राणिविशेष—अन्नाद्भवन्ति भूतानि ( गी० ३।१४= जीव ) ] के रहने के कारण यह देश भूत > भोत > 'भोट' नाम से प्रसिद्ध हो गया ( शक्तिसंगमतन्त्र )—

कश्मीरं तु समारभ्य कामरूपात्तु पश्चिमे।
भोटान्तदेशो देवेशि मानसेशाच्च दक्षिणे॥
मानसेशाद्दक्षपूर्वे चीनदेशः प्रकीर्तितः।

नेफा को आज हम भले ही 'नार्थ ईस्ट फ्राण्टियर एजेन्सी' का संक्षिप्त रूप समझें पर शंकर के परमोपासक मुनि पाणिनि का "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" ( ६।३।९७ ) सूत्र हमें 'नीप' की स्थिति बतलाता है। नीप का अर्थ है—

निम्न भाग में स्थित, गहरा (काठक संहिता), और पर्वत का चरण भाग ( महीधर )। लक्षण ही नहीं महाभारत जैसे ऐतिहासिक लक्ष्य ग्रन्थों में भी 'नीप' का वर्णन उपलब्ध होता है ( महाभारत २।५१।२४ )—

वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा।
नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान्॥

हिमालय का चरणभाग यह नीपः > नीफा > नेफा उपेक्षणीय नहीं है। इसी के आसपास नाग एवं अप्सरा-समूहों का निवास है—"नागाप्सरसां गणाश्च। वसन्ति यत्रैव सुखेन" ( स्क० पु० १।२४।६७ ), 'नागाः

सुपर्णा गन्धर्वाः' ( महाभारत ३।१३९।१२ )। वर्तमान नागा व्यास-वर्णित नागा ही हैं। इन्हें अभारतीय समझना भ्रान्ति है। यह नगाधिराज से आगत होने के कारण नागः > नागा हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि हिमालय सुविस्तृत भूभाग है। हिमालय को अभिव्याप्त करके आर्यदेश की सीमा ( मनु० २।२२ ) है। पर पार व्रात्यों का निवास है। नाग, किम्पुरुष ( म० भार० २।२८।१ ), सिद्ध, यक्ष प्रमथ तथा अप्सराएँ इसका आश्रय लेकर रहती हैं। मयुप ( मयु = गन्धर्व, प = पालक ) > मोपा > मोम्पा जाति, मलय पर्वताश्रयी मलय, शिक्यम् > सिक्किम, शिक्याङ्ग > सिकियाङ् ( शिवाङ्ग > सियाङ् ) चतुश्शूल > चुसूल क्षेत्र, शिवाङ्गलि > (स्फायाङ्गुलि > (स्फायाङ्गुलि) > स्पांगुरी > स्पांगुर, ( क्षमाङ्गुलि > खमागुर > खंगूर झील ), वालाङ्ग > वलांग अथवा व्लङ्ग > पलाङ् = अनुसरण, आखेट, गवेषण (ऋ० १।१३३।१; ४ ) लोहित, मृगीतनु > मिगीतुन > मिगीटुन, सुवर्णश्री > सुवन-सिरी, गरपान( = विषपान) > गलफान > गलबान, क्षिप्र-स्तेप( = क्षरण) > सिपसेप > चिपचेप, पिङ्गाङ्ग > पैगांग, रूपस्थल > रुपथाल > लपथाल, साङ्ग–चिन्मयु > चांग चेन्मो, त्यक्त साङ्ग किम्पु (रुष) > तक्त सांग गैम्पा, खञ्जमणि > खिजमेन, सांख्य मल्ल > सांगज मल्ल > सांगचा मल्ल, शिवकी ( शिपिविष्टकी ) > शिपकी, लवङ्गजव (लवङ्ग अप्सरा का नाम है) > लौंगजौ > लाङ्जू, यात्वङ्ग > यातुङ्, खुरनाग > खुरनाक, तनुज-ऊर्णलः > तुनजूनला, कालकूर्म > कारकूरम > काराकोरम, तवाङ्ग > तावाङ् तथा ह्लासः–ल्हासः > ल्हासा ( > देवभूमि तिब्बत में ल्ह-स का अर्थ देवभूमि है ) इत्यादि स्थान सरस्वती = भारती के उपासक भारत की ग्रीवा की धमनियाँ हैं। परिणामतः सम्पूर्ण तिब्बत भारत का अविच्छेद्य अङ्ग है। शिलीगुर्वी > सिलीगुड़ी, कालिमपुङ्ख > कालिम्पोङ् एवं भूतायन > भूटान को कौन तत्त्वज्ञ भारत का कन्धा न मानेगा ?

## चीन भारत का वशंवद

महाभारत काल में अर्जुन ने अन्य पार्श्ववर्ती देशों के समान चीन पर भी विजय पायी थी। प्राग्ज्योतिषपति भगदत्त के साथ ही चीनियों ने

भी घुटने टेक दिये थे। महाभारत ( २, २६, ८–९ )–

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते।
तेनासीत् सुमहद् युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥
स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत्।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥

तोषार (महाभारत २।५१।३०) >तोखारिस्तान ( पश्चिमी चीनी तुर्किस्तान तथा तङ्गणाः >थांगळा >थागला (वर्तमान थागला निवासी) राजाओं ( महाभारत २।५२।३ ) के सदृश चीन देशाधिपति भी भारत को कर प्रदान करता था ( महाभारत २।५१।२३ )। राजसूय यज्ञ के समय चीन ने महाराज युधिष्ठिर को और्ण, कीटज एवं रांकव पट्ट सर्मपित किये ( महाभारत २।५१।२६ ), चीन देशोत्पन्न हजारों घोड़े पहुँचाये ( ५।३०४९ )।

महाभारत के भीषण युद्ध ने इस देश को निश्शक्त बना डाला, अव्यवस्था उत्पन्न कर दी। अधीन राज्य छिन्न-भिन्न हो गये। विशाल भारत के असंघटित राज्यों को बिखरे मनकों के तुल्य एक सूत्र में पिरोने वाला कोई न रहा। इधर चीन देश धर्म-मार्ग पर चलने के लिए लालायित हो उठा। वह भारत की ओर उद्ग्रीव था। ईसा की प्रथम शताब्दी के लगते ही सम्राट् मिङ्-ती को स्वप्न में छत्तीस फीट ऊँची मार्तण्ड के समान प्रदीप्त स्वर्ण मूर्ति सामने खड़ी दिखी। इसका अर्थ पूछे जाने पर विद्वन्मणि मन्त्री त्सरुवाणी >त्सू-आन-ई ने बतलाया कि भगवान् बुद्ध ने आपको दर्शन दिया है। उनके धर्म-मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। सम्राट् ने धर्म की खोज में अट्ठारह मनुष्यों का एक दल भेजा। वे लोग तोषारस्थान >तोखारिस्तान में बोधिसत्त्व काश्यप मातङ्ग और गोभरण से मिले। काश्यप तक्षशिला के आचार्य थे। सड़सठ ई० में सम्राट् स्वयं बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया। सारा चीन भारत के प्रति श्रद्धावनत था, वशंवद था।

चीनी लोग ध्यान को चान और जापानी जेन कहते हैं। चीनदेशीय दन्त्य ध्वनियों को तालव्य में परिवर्तित कर लेते हैं। अन्तिम वर्ण

प्राय: ङकार या नकार रहा करता है। नकिया कर बोलना किंपुरुषों की अपनी विशेषता है। और यह सब भगवान् शंकर की परम्परा से गृहीत है। महेश्वर के माता--पिता ( गोत्र ) नाद ही है—( स्क० पु० १।२५।७४–७५ )। पाणिनीय व्याकरण के संज्ञादि-विधानों का परीक्षण कीजिए, आपको 'ङ्' अधिक मिलेगा–एओङ् (३), अवङ् ( ६।१।१२३ ), अनाङ् ( १।१।१४ ), ( कुङ् खुङ् गुङ् घुङ् ), औङ् ( ७।१।१८ ), इयङ् उवङ् ( १।४।४ ), असुङ् ( ७।१।८९ ), अनङ् ( ५।४।१३१ ), ऊङ् ( ४।१।६६ ), ङीन् ( ४।१।७३ ), यङ् ( ४।१।७४ ), शीङ् ( १।४।४६ ), अकङ् ( ४।१।९७ ), च्फञ् ( ४।१।९८ ) आदि। आखिर यह सब गौरीगुरु जगत्-शिक्षक हिमालय की उपज न है ! वेद में भी अनुस्वार को ग्वङ् बोला जाता है। चीण ( छोटा-खोटा—देशी-भाषा ) ने यह सब सीखा था।

कुछ भाषा-खोजियों के मतानुसार 'ङ्' आदि अनुनासिक ध्वनियाँ चीन की अपनी विशेषता है। इस आधार पर वे विवादग्रस्त ( उनके मत में ) क्षेत्रों को अप्रत्यक्ष रूप से अभारतीय बताना चाहते हैं। हमारा तो निवेदन है कि संश्लेषप्रधान संस्कृत का विश्लिष्ट रूप प्रायश: चीनी बन जाता है। पूर्व पंक्तियों में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं। सम्राट् मिङ्-ती को भी आप संस्कृत में देख सकते हैं–प्रणिदानार्थक मेङ् धातु, ति प्रत्यय। प्रक्रियात्मक रूप मेङ् + ( ति प् ) > मिङ् ती। इस प्रकार के निदर्शनों से आप जान गये होंगे कि चीनी लोग विच्छेद-प्रिय हैं। शब्दों को तोड़-तोड़कर बोलना उन्हें अधिक रुचता है। उनके यहाँ गणेश जी की भी पूजा होती है। पर वे गणेश शब्द का एक एक अक्षर तोड़ देंगे, वर्णविपर्यय करेंगे और कुछ धारक शब्द अपनी ओर से भी जड़ देंगे—ग्अ > कुआन्, श > शी, णे > तियेन्। गणेश शब्द के अन्तिम वर्ण 'श' को मध्य में कर लेते हैं। गणेश > कुआन्-शी-तियेन्।

भौगोलिक सांस्कृतिक एवं भाषा की दृष्टि से तिब्बत-पर्यन्त प्रदेश भारत का अविचिकित्स्य स्वत्व है। भौगोलिक सीमाओं की सुरक्षा के

लिए भारत में प्रत्येक व्यक्ति को संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

### श्यामसरस्वती का सिद्धस्थान 'चीन'

श्याम सरस्वती का सिद्ध स्थान 'चीन' में है। किन्तु संस्कृताध्ययनसे पराङ्मुख भारतीय जनता इस तथ्य से चिरकाल तक अपरिचित रही। संस्कृत भारत की दीर्घ दृष्टि है। उस दृष्टि के सहारे भारत अपने प्राचीन इतिहास और गौरव को देख सकेगा। आज भारतीय जनता अपनी इस दृष्टि को खोती जा रही है।

आर्यों ने रसपरिप्लुत रसना पर नर्तन करने वाली वाग्देवता सरस्वती का अभिनन्दन-वन्दन प्रारम्भ से ही कर दिया था—"शं सरस्वती सह धीभिरस्तु" ( ऋग्वेदसंहिता ७.५.१ )='सरस्वती बुद्धि-शक्तियोंका साथ देकर कल्याण करें।' देवीभागवत ( ९,५, १३-१४ ) के सरस्वती-स्तोत्र में सरस्वती को स्मृतिशक्ति, ज्ञानशक्ति, बुद्धिशक्ति, प्रतिभाशक्ति एवं कल्पनाशक्ति बताया गया है।

शक्ति प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतः प्रकृति में दृश्यमान शक्तिसंवलित उपादानों का आरोप सूक्ष्मशक्तियों में किया जाना नैसर्गिक है। अष्टमूर्ति ( पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा आत्मा ) का संस्तवन इसका निदर्शन है। सरस्वती नदी के अप्रतिदेय उपकारों से प्रभावित होकर उसकी धारावाहिकता एवं कलकल निनाद को वाणी की धारावाहिकता, सरसता तथा शब्द का प्रतिरूप मान लिया गया। सरस्वती का उद्गम-स्थान ब्रह्मसर होने के कारण इसे ब्राह्मी तथा सरस्वती नाम दिये गये। भा=दीप्ति ( चमक ) में रति=क्रीड़ा होने के कारण भारती, शब्द होने के कारण शब्दार्थक √वण् से वाणी, √गृ से गिर् तथा √वच् से वाक् प्रभृति संज्ञाएँ सरस्वती की हुईं।

देवीभागवत ( ९,८,३ ) के अनुसार सम्पूर्ण स्रोतों में सलिल दृष्टिगोचर होता है। हरि सरस्वान् ( पानी वाले ) हैं। उनके इस नाम के कारण नदी इत्यादि जलाशयों का नाम भी सरस्वती पड़ गया—

सरो वाप्यां च स्रोतस्सु सर्वत्रैव हि दृश्यते।
हरिः सरस्वांस्तस्येयं येन नाम्ना सरस्वती॥

शनैः शनैः उपमा विस्मृत हो गई और रूपकमात्र अवशिष्ट रह गया। फलतः हम शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती को स्पष्टतः वाग्देवता के रूप में पाते हैं—'वाग्वै सरस्वती' ( ३,९,१,७ ); ( स्वराट् ) मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती' ( श० ब्रा० ७,५,१,३१ ); 'जिह्वा सरस्वती' ( श० ब्रा० १२, ९, १, १४ ); 'वागेव सरस्वती' ( ऐतरेय ब्राह्मण २, २४ )।

देवीभागवत पुराण ( ९,८,२ ) में सरस्वती नदी को शब्दतः वाग्देवता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है—

सरस्वती पुण्यक्षेत्रमाजगाम च भारते।
गङ्गाशापेन कलया स्वयं तस्थौ हरेः पदे॥
भारती भारतं गत्वा ब्राह्मी च ब्रह्मणः प्रिया।
वाण्यधिष्ठातृदेवी सा तेन वाणी प्रकीर्तिता॥

विष्णु की पत्नियों—गङ्गा तथा सरस्वती को परस्पर शाप के कारण भारत में नदी होकर आना पड़ा। ब्रह्मप्रिया होने के फलस्वरूप सरस्वती को ब्राह्मी=वाग्देवता कहा गया। सृष्टिविधान में पाँच प्रकार की प्रकृतियों में से एक प्रकृति सरस्वती भी है ( दे० भा० ९.४.४ )—

गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मी सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता॥

सृष्टि के आदि में विद्यमान देवी प्रकृति नाम से सम्बोधित होती है ( दे० भा० ९.१.८ )—

प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेरादौ च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

इसी प्रकृति को शक्ति रूप में दैत्य दानव तक पूजते थे क्योंकि शक्ति=सामर्थ्य अथवा बल के न रहने पर सभी असमर्थ हो जाते हैं। इकार शक्ति के न रहने पर शिव भी शव बन जाते हैं ( दे० भा० १.८.३१ )—

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डल्यादिविवर्जितः।
शक्तिहीनस्तु यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः ॥

लक्ष्मी समुद्रपुत्र जालंधर राक्षस की बहिन थी। पत्नी के प्रेम के कारण विष्णु ने जालन्धर का विनाश नहीं किया। इसके विपरीत उसके घर में ही रहना प्रारम्भ कर दिया ( पद्मपुराण ६.८.७८;८३ )—

प्रेम्णा श्रियस्तं न जघान दानवम्।
स्वयं हरिस्तस्य शरैः पपात ॥
अब्धौ वसति देवेशो लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया।

सरस्वती लक्ष्मी की बहिन ( सपत्नी ) मानी गई है ( दे० भा० ९.६.१७ )। पुराणों में दुर्गा, पार्वती, सरस्वती इत्यादि भेद एक ही शक्ति के स्वरूप बताये गये हैं।

गायत्री का एक नाम सरस्वती भी है। अरुण दैत्य गायत्री की उपासना के बल पर अविजेय हो गया था। 'हमारी आराध्य देवी की पूजा तुम करते हो !' बृहस्पति के इस प्रकार कहने पर अरुण ने अहङ्कार में आकर गायत्री की उपासना छोड़ दी। फलतः उसके निस्तेज होने पर इन्द्र ने उसे परास्त कर दिया ( दे० भा० १०.१३.७७ )। इन्हीं सरस्वती की हिमालय के उत्तर में प्रतिष्ठापना की गयी थी ( दे० भा० १२.३.११ )—

गायत्री पूर्वतः पातु सावित्री पातु दक्षिणे।
ब्रह्मसन्ध्या तु मे पश्चादुत्तरायां सरस्वती ॥

कैलास के उत्तर सुदूर मानसोत्तर पर्वत पर पार्वती ने भी शंकर-जालन्धर युद्ध के समय निवास किया था। वहाँ उनका कमलकोषगत ( भ्रामरी ) रूप कहा गया है ( पद्मपुराण ६.१७.१९; दे० भा० ७.३८.७ )। मानसोत्तर पर्वत अर्वाचीन तथा पराचीन देशों का सीमागिरि बताया गया है ( दे० भा० ८.१३.३० )।

हिमालय ( मेरु ) से उत्तर तीन पर्वत प्रसिद्ध हैं—१. नील, २. श्वेत तथा ३. शृङ्गी ( कूर्मपुराण पूर्वार्द्ध ४५.९ )। देवियों के सिद्ध-

स्थान पर्वतों पर बताये गये हैं ( दे० भा० ७.३८.१७ )। चीन में नील सरस्वती का सिद्ध-स्थान प्रख्यात है ( दे० भा० ७.३८.१३ )—

'तथा नीलसरस्वत्याः स्थानं चीनेषु विश्रुतम्'

बौद्ध सम्प्रदाय विशेष में द्वितीय विद्या तारा देवी का नाम प्रसिद्ध है। त्रिकाण्डशेष ( १, १७-१८ ) में तारा का पर्यायवाची शब्द नील-सरस्वती भी है—

तारा महाश्रीरोङ्कारा स्वाहा श्रीश्च मनोरमा।
तारणी च जयाऽनन्ता शिवा लोकेश्वरात्मजा॥
खदूरवासिनी भद्रा वैश्या नीलसरस्वती।

महाचीनक्रमाचार तन्त्र के अनुसार ब्रह्मा के मानस-पुत्र वसिष्ठ इन्हीं तारा देवी की सिद्धि के हेतु नील पर्वत पर तपस्या करते थे—

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठेति·····संयमी।
तारामाराधयामास पुरा नीलाचले मुनिः॥

जब दस हजार वर्षों तक आराधना करने पर भी तारा देवी ने अनुग्रह नहीं किया, तब रुष्ट होकर वसिष्ठ ने शाप दिया कि तारा की उपासना किसी को फलदा न हो। अन्ततः तारा ने प्रकट होकर वसिष्ठको बताया कि मैं चीनाचार के बिना कथमपि प्रसन्न नहीं होती। देवी के निर्देशानुसार वसिष्ठ महाचीन देश पहुँचे। उन्होंने हिमालय के पार्श्वभाग में बुद्धरूपधारी विष्णु को तारा-ध्यान-परायण देखा ( महा-चीनक्रमाचारतन्त्र, द्वितीय पटल )—

···'हिमवत्पार्श्वे साधकेश्वरसेवितम्॥
दूरादेव विलोक्यैनं वसिष्ठो बुद्धरूपिणम्।
विस्मयेन समाविष्टः········ ॥

इस प्रकार महाचीनक्रमाचार तन्त्र में शाक्त रीति का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। इस तन्त्र में भगवान् बुद्ध को विष्णुरूप में प्रदर्शित किया गया है। 'बुद्ध उवाच' वाक्य वहाँ स्पष्टतः मिलता है। तब प्रश्न होता

है—क्या बौद्ध धर्म के पूर्व चीन में नीलसरस्वती का सिद्ध स्थान नहीं था ? उत्तर है—अवश्य था। तारा का पर्यायवाची 'श्री' शब्द है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'श्री' बुद्ध की पश्चाद्वर्तिनी देवी है। शीतप्रधान देश में जाकर बौद्ध धर्मानुयायियों को भी तदनुरूप शाक्त हो जाना पड़ा। जैसा देश वैसा वेष। यहीं से बौद्ध धर्म में मोड़ आया। तिब्बत आदि के बौद्ध धर्मानुयायी 'अहिंसा परमो धर्मः' का नारा लगाने के साथ ही साथ मांसभक्षण इत्यादि को हेय नहीं समझते। महाचीनक्रमाचार तन्त्र 'देव्युवाच' और 'शिव उवाच' से प्रारम्भ होता है। मध्य में 'विष्णु उवाच' के स्थान पर 'बुद्ध उवाच' प्राप्त होता है। वहाँ इस प्रकार के शब्द प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। बौद्ध धर्मानुयायियों का अपने में शाक्त सम्प्रदाय को खपा लेने का यह बौद्धिक प्रयास तर्कणीय है। द्वितीय विद्या तारा की वाचक नीलसरस्वती वाग्देवता ही है ( तन्त्रसार )—

तारांद्या पञ्चवर्णेयं श्रीमन्नीलसरस्वती।
सर्वभाषामयी शुद्धा सर्वदेवैर्नमस्कृता॥

तन्त्रसार में नीलसरस्वती की व्युत्पत्ति यों दी गयी है—

'नीला च वाक्प्रदा चेति तेन नीलसरस्वती'

वाग्देवता सरस्वती शतपथ इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध है। ऋग्वेदसंहिता में तो इसका बुद्धियों के साथ संकेत किया गया है। वैदिक वाङ्मय की वाग्देवता यही सरस्वती तन्त्र आदि वाङ्मय का स्रोत है।

वाग्देवता सरस्वती को काण्व-शाखोक्त सपर्या इत्यादि में शुक्लवर्ण बताया गया है ( ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्र० खं० ३,५३;५४;५६ )—

आविर्बभूव तत्पश्चान्मुखतः परमात्मनः।
एका देवी शुक्लवर्णा वीणापुस्तकधारिणी॥
कोटिपूर्णेन्दुशोभाढ्या शरत्पङ्कजलोचना॥

वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता।
शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती॥

मननीय है कि यह स्वरूप शारदा सरस्वती का है। शारद काल में होने के कारण उसे शारदा कहते हैं। वर्ष का वह उदयकाल है। फलतः शुभ्र है। वसन्त वर्ष का सायंकाल है। सायं गायत्री का अपर रूप सन्ध्या-देवता श्यामवर्णा सरस्वती विदित है ( देवीभागवत ११. २०. ३६ )—

ध्यानं प्रकुर्यात् सन्ध्यायां सायंकाले विचक्षणः।
वृद्धां सरस्वतीं देवीं कृष्णाङ्गीं कृष्णवाससम्॥

यह पीताम्बरधरा रूप में भी वर्णित है (दे० भा० ११. २०.४०)-

पीताम्बरधरां देवीं सच्चिदानन्दरूपिणीम्।

यही पीताम्बरधरा श्यामसरस्वती श्रीपञ्चमी अथवा वसन्त-पञ्चमी की उपास्य देवता हैं। इन्हीं का सिद्ध स्थान चीन है, जिसे हम भारतवासियों ने संस्कृत की उपेक्षा के कारण चिरकाल से भुला रखा है।

गोपथ ब्राह्मण ( उ० १. १२ ) में सरस्वती को अमावास्या कहा गया है। अमावास्या कृष्णपक्ष में होने के कारण श्याम ( नील ) होती है—

'अमावास्या वै सरस्वती'

अश्विन् और सरस्वती ने फेन को वज्र के रूप में सींचा। वह न शुष्क था न आर्द्र। इन्द्र ने उससे सन्ध्या वेला में ( जब न निशा थी, न दिन तब ) नमुचि का सिर उड़ा दिया ( श० ब्रा० १२. ७. ३. १–३ )। फलतः तब से सन्ध्या की अधिष्ठात्री सरस्वती की प्रसिद्धि श्यामसरस्वती के रूप में हो गयी।

श्यामसरस्वती के सिद्ध स्थान चीन का अपर नाम 'नील रम्यक' भी उपलब्ध होता है ( लिङ्गपुराण पूर्वार्द्ध ४९. ९ )—'इलावृतात् परं नीलं रम्यकं नाम विश्रुतम्'=इलावृत ( तिब्बत ) से पर 'नील रम्यक' वर्ष है।

सुनील तथा श्वेत पर्वतों के मध्य में रम्यक वर्ष अवस्थित है ( स्कन्द पुराण १. ३७. ५४ )—

'सुनीलश्वेतयोर्मध्ये खण्डमाहुश्च रम्यकम्'

सुपार्श्व पर्वत तिब्बत के उत्तर में है ( कूर्मपुराण पूर्वार्द्ध ४५. १४; १५; १६ )—

इलावृतं महाभागाश्चत्वारस्तत्र पर्वता: ॥
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादन: ॥
विपुल: पश्चिमे भागे सुपार्श्वश्चोत्तर: स्मृत: ॥

इसी सुपार्श्व पर्वत के बगल में स्थित नीलपर्वत (कूर्म पुराण पू० ४५. ९ ) पर सरस्वती विराजमान हैं ( कूर्म पुराण पूर्वार्द्ध ४७. २१ )—

'सुपार्श्वस्योत्तरे भागे सरस्वत्या: पुरोत्तमम् '

नीलरम्य वर्ष के अनन्तर श्वेत (हिरण्मय) पर्वत है ( लिङ्गपुराण पू० ५२. ४७ )—

'दैत्यानां दानवानां च श्वेत: पर्वत उच्यते'

इस श्वेत ( हिरण्मय ) से भी पर दक्षिणोत्तर भाग में शृङ्गी और कुरुवर्ष धनुषाकार विद्यमान हैं ( लिङ्गपुराण पू० ४९. १० )—

हिरण्मयात् परं चापि शृङ्गी चैव कुरु: स्मृत: ।
धनु:संस्थे तु विज्ञेये द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे ॥

यह कुरु=कुरुवर्ष [ लिङ्ग पुराण पू० ५२.१९ ] > कुलोप ] > रुवर्ष > रुर्ष > रूस है। निष्कर्षत: 'नीलरम्यक' [ चीन का नामान्तर ] विशाल देश है। उसमें ( दक्षिण उत्तर आदि ) चीन प्रदेश-सदृश हैं। अत: 'चीन' शब्द में बहुवचन जोड़ा जाता है—'चीनेषु'। जिस प्रकार भारत के 'अङ्ग' 'वङ्ग' 'कलिङ्ग' इत्यादि प्रदेश रूप भागों में बहुवचनान्त प्रयोग होता है—'अङ्गेषु' 'वङ्गेषु' 'कलिङ्गेषु', उस प्रकार 'भारत' में नहीं होता। किन्तु 'भारते वर्षे' एकवचन होता है। केवल कूर्मपुराण ( पूर्वार्द्ध ४७.२१ ) में बहुवचन मिलता है। उसे प्रदेशपरक समझना चाहिए।

इस नीलरम्यक देश का मर्यादा-( सीमा )-पर्वत नीलपर्वत है—'नीलस्तथोत्तरे मेरोः' ( लिङ्गपुराण पूर्वार्द्ध ४९.३ )। श्याम सरस्वती का सिद्धस्थान होने के कारण इस पर्वत का नामकरण 'नील' हुआ और देश का नाम 'नील रम्यक'। यद्यपि 'तत्रत्या पृथिवी सर्वा देवीरूपा स्मृता बुधैः' ( दे० भा० ७.३८.१८ ) के अनुसार नीलरम्यक ( चीन ) की संपूर्ण भूमि देवीरूपा होने के कारण हमारी प्रापणीय है, अधिकरणीय है, तथापि अभिव्याप्तिपूर्वक सीमा-निर्णय के अनुसार उक्त सीमापर्वत तो हमारा है ही। वह हमारी वसन्त एवं सायं सन्ध्या की उपास्य देवता सरस्वती का सिद्धस्थान है।

इस प्रकार के अज्ञात इतिहास के द्वार को खोलने की कुंजी संस्कृत के अधिकार में है। अपनी और अपने देश की सुरक्षा के लिए प्रत्येक भारतीय का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह संस्कृत की शिक्षा अनिवार्य रूप से ग्रहण करे।

### संस्कृत का कूल चीनी का भी मूल

प्रसिद्ध भाषाविज्ञान-वेत्ता मूलर के अनुमानानुसार इस विश्व में लगभग सौ भाषा-परिवार विद्यमान हैं। मोटे तौर पर संसार की भाषाओं को बारह परिवारों में विभक्त किया गया है—१. भारोपीय परिवार, २. सेमेटिक परिवार, ३. हेमेटिक परिवार, ४. चीनी परिवार ५. युराल-अल्ताई परिवार, ६. द्रविड़ परिवार, ७. मलय-पलेनीशियन परिवार, ८. वान्तू परिवार, ९. अफ्रीकी परिवार, १०. अमेरिकन परिवार तथा ११. अन्य भाषा परिवार।

मूलर के उक्त मतानुसार चीनी परिवार अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। यद्यपि विद्वान् इन परिवारों की संख्या कम करने के लिए इनके बीच सम्बन्ध-स्थापना की चेष्टा कर रहे हैं, तथापि प्रयत्न-परिणाम अभी तक सम्मुख नहीं आये हैं।

हमारा तो मत है कि हिमालयवर्ती अधित्यका आर्य जीवन का स्रोत है। सुरभारती=संस्कृत का विश्लिष्ट रूप चीनी भाषा है। इस भाषा में प्रकृति एवं प्रत्यय का भेद नहीं रहता। वाक्य में उद्देश्य विधेय आदि का

विचार, स्थान, निपात तथा स्वर द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। फलतः कालरचना और कारक-रचना का वहाँ सर्वथा अभाव है। व्यास-( विश्लेष )-प्रधान होने के कारण इस भाषा की प्रवृत्ति एकाक्षरी है। इसे भाषा-विज्ञ निरवयव ( आकृतिमूलक ) भाषा मानते हैं।

चीनी भाषा संश्लिष्ट संस्कृत की विश्लिष्ट ध्वनियों से किस प्रकार एकाक्षरी होकर अपने चिरन्तन मूल को भुलाकर स्वतन्त्र बन बैठी है—इसे छः दर्जन क्रियाओं द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न प्रस्तूयमान है।

| संस्कृत | चीनी | हिन्दी |
|---|---|---|
| १. ष्टुञ् ( √स्तु )— | तू = | पढ़ना |
| २. डुकृञ् ( √कृ ) > चृ > चु > | चो = | करना |
| [ यथा अमृत > अमरूद ] | | |
| ३. शंसु ( > शंस् ) = स्तुतौ > शस् + उ > शु > शो = | | बोलना |

शंसु धातु प्रायः कथन अर्थ में ही मिलता है। यथा—'स्वामिनः स्वस्य शंसति' ( मनु० ८, २३३ ) = कथयति ( मन्वर्थ० ) = कहता है। 'शंस नस्तत्त्वतः परम्' ( मनु० १२, १ ) = ब्रूहि ( मन्वर्थ० ) = कह। 'न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितम्' ( रघु० ३, ५ ) = आचष्टे ( संजी० ) = कहती है।

| संस्कृत | चीनी = हिन्दी |
|---|---|
| ४. कीण > कीण > की > | के = देना |
| ५. धेट् ( √धा ) > हा > | ह = पीना |
| ६. गृह्णाति > णा > | ना = लेना |
| ७. धांवु ( = गतिशुद्ध्योः ) > चावु > चाऊ | चोऊ = दौड़ना |
| [ संस्कृत ध्यान को चीनी 'चान' कहते हैं ] | |
| ८. ईक्षमाण > ईक्ष् + आन > ख-अन > | कआन = देखना |
| ९. चमति > च इ > | ची = खाना |
| १०. शिक्षापयति > चिखापु > चिखापो > | चिखावो = सिखाना |
| ११. सु ( शिक्ष ) > सुइ > | सुए = सीखना |
| १२. स्थान > | चान = खड़ा होना |
| १३. वस ( निवासे ) > सव > चव—चऊ > | चू = रहना |

संस्कृत — चीनी हिन्दी

१४. उपविश > उश > शऊ > चउ > चो = बैठना

१५. सीव्यते > सीते > सीए सिए = लिखना

वस्त्रों पर अक्षर लिखने = सीने, काढ़ने का भी अपना एक ढंग है। अक्षरों का काढ़ना चीन में सर्वत्र लिखने अर्थ में प्रयुक्त हो गया।

१६. अस्ति-भू > असि भू > सिहू > शिह = है, हैं हूँ इत्यादि

१७. आकाङ्क्षति > आति > आइ > आई = चाहना

१८. ईक्ष + आन-शंसु > ख आन स शु > कआन शु > कआन-शू = पढ़ना

१९. ईक्ष + आन + चित्रण > कआन-चियन > कआन-चिएन = देखना

२०. उद्घाटयति > घा ति > गा-इ > काइ = खोलना

२१. उद्घाटयति-शान (शो तनूकरणे) > घाईशान > काइ शाङ् = ढँकना

२२. उद्घाटयति-शंसु > घाई-शु > काई शो = समझना।

२३. उद्घाटयति-अस्ति भू > घाइ-सिहू > काई-शिह् = शुरु करना

२४. कवते ( कुङ् शब्दे )-शंसु > काव-सु > काउ-सु > काओ-सू = कहना।

२५. क्वण ( शब्दे ) > कुअन > कुआन = बंद करना। ( बन्द करने पर शब्द होता है )।

२६. कुङ् ( शब्दे )-धु ( कम्पने ) > कुङ्-चु > कुङ्-चो = काम करना। ( काम करते समय शब्द और स्पन्दन होता ही है )।

२७. केण् (गतौ)-काशकृत्स्न (भ्वा० २१३) > केन = अनुसरण करना।

२८. कौ (= पृथ्वी पर), स्था > ति > को-छाई > को चाई = रखना।

२९. [परि] चि + अः-[ज] सु (= मोक्षणे) > चइआ-सोउ = परिचय देना।

३०. [उद्] स्था + ति; लाति > चाइ-लाइ > चइ-लाई = उठना।

३१. याच + तु > चयातु > चयतु > चयउ > चइउ = भीख माँगना।

३२. च्युङ् (= गतौ) > च्युङ् > चइङ् > चएङ् = चढ़ना।

३३. चुत्(इर्)-च्युत्(इर्)[= क्षरणे] > चउ-च्यु > चउ-च्यु = निकल जाना।

**संस्कृ०** — चीनी — हिन्दी

३४. च्युङ्-कुङ् (=शब्दे) > चएङ् कुङ्=सफल होना ।

३५. धूम-पान > ध् ओम पान > चओउ-
प्यान > चओउ-यान=सिगरेट पीना ।

३६. क्षिप्राशीः > शिआशी > चिआ-शी=हाँकना ।

३७. [अ] धि-अञ्ज् (=व्यक्तौ) > धिअञ्ज् >
चिअङ् > चिआङ्=कहना ।

३८. चि (=चयने )-चिनोति > चिना (ति) > चिआ=जोड़ना ।

३९. चिह्नं लाति > चिन लाई=प्रवेश करना ।

४०. किः (=ज्ञाने)-स्थायु > चिह-थाओ > चिह-ताओ=जानना ।

४१. चिन्तिः > चीतिह > चू > ची-तेह=याद रखना ।

४२. स्था-तु > छा-ऊ > छू > चू=ठहरना ।

४३. स्था-तु > छा-ऊ > छू > चो=बैठना (काम करना) ।

४४. धावु-लू (ञ) [=छेदने] > चाउऊ-लू > चोऊ लू=टहलना ।

४५. तायृ [=पालने]-धावु > त् आ-यु-चोउ >
त आऊ चोउ=बच निकालना ।

४६. समस्ताङ्ग-शी+अः (शयः) > तआङ-शिआ >
तआङ्-शिआ=लेट जाना ।

४७. स्थिरायुः > थ इ आयु > तइआउ=कूदना ।
[खेलने कूदने से आयु स्थिर होती है]

४८. स्थिरायुः+भू > थ इ आऊ भू > तइ आऊ वू=नाचना ।

४९. स्थिराङ्ग > थ इ ङ्ग > तइङ=रुकना ।

५०. तुङ्ग-किः (=ज्ञान) > तउङ्ग-किह > तउङ चिह=राय देना ।
सूचना देना ।

५१. तत्पुनः > ताफून > ताफू=जबाब देना ।

५२. तरिः > तइ > ताई=ले जाना ।

५३. प्राप्तायुः > तायु > ताऊ=पहुँचना ।

५४. तर्जितः > ताजिआ > ताचिआ=लड़ना ।

संस्कृत चीनी हिन्दी

५५. मार्ष्टानि मार्ष्टानि > तानि तानि > तान-इ-तान = झाड़ना।
५६. स्थाल्यै (= बटलोई के लिए) > था लिये > ता लिए = शिकार करना।
५७. मत्स्यौ ऊतौ (= बुने हुए) > त्यौ-ऊ > तिआऊ-यू = मछली मारना।
५८. स्थितेन स्थितेन > थिएन-थिएन > तिएन-तिएन = जाँच करना।
५९. गृह्णाति-लाति > नाति-लाइ > ना-लाई = लाना।
६०. प्राण > फान > फाङ = रखना।
६१. पृच्छाङ्ग > पूत्स आङ्ग > फूत्स उङ = आज्ञा पालना।
६२. जिन > यिन = जीतना।
६३. युक्त-चयन (चि + अन) > यू-चिअन > यूचिएन = भेंट करना।
६४. युक्तप्रीति > यू पी = तैयारी करना।
६५. ला [= आदाने] > ला = खींचना (धकेलना)।
६६. भू-चयन (चि + अन) > बू-चिअन > बू-चिआन = बाड़ा लगाना।
६७. शीन (= जमा हुआ)-त्याग > शेन चाग > शेन चाङ = बढ़ना।
६८. साधु-अनङ्ग > साहु-अअङ > साहु आङ = झूठ बोलना।
६९. चिन्ताङ्ग > सिआङ = सोचना।
७०. शंसु (= स्तुतौ)-सु > सू = वर्णन करना।
७१. भूयः लाति > हूइ-लाइ > हुई लाई = लौट आना।
७२. चितेः घूर्ण > चिए घून > चिए हून = शादी करना।
चयन (चि + अन)-हवन (हू + अन) > चिए हून = शादी करना।
७३. शुभायन > हुआन = स्वागत करना।

चीनी भाषा की क्रियाओं का घटन संस्कृत के परिनिष्ठित रूपों के आधार पर ही नहीं हुआ प्रत्युत उसके प्रक्रिया-दशा के स्वरूपों का भी आश्रय लिया गया है। संस्कृत के अधिकांशतः नाम क्रियाओं में प्रयुक्त होकर चीनी भाषा के धातु बन गये। इस सबके ज्ञान के लिए संस्कृत पढ़ना प्रत्येक भारतीय का अनिवार्य कर्तव्य है।

## संस्कृत भारत का कलेवर है

वेदों के शब्दों की व्याख्या या व्युत्पत्ति के लिए निरुक्त और व्याकरण का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इसीलिए वेद के छः अंगों में से व्याकरण का महत्त्व मुँह की भाँति तथा निरुक्त का स्थान कान-जैसा माना गया है। बोलने और सुनने के वाग्यन्त्र और श्रोत्रयन्त्र का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। आत्मिक, बौद्धिक और मानसिक सूक्ष्म विचारों को स्थूल रूप में प्रकट करने का माध्यम वाग्यन्त्र है। वाणी की धारा को छानने का कार्य व्याकरण करता है। वह वाणी के स्वरूप को आटे को चलनी की भाँति साफ करता है। वाणी की इस व्याख्या का कार्य वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था। इन्द्र ने देवगुरु बृहस्पति से इसका अध्ययन किया था। इन्द्र ने वायु की सहायता से संस्कृत का प्रथम व्याकरण बनाया। अतः वह 'ऐन्द्र व्याकरण' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। व्याकरणों के निर्माण की यह परम्परा निर्बाध चलती रही। पाणिनि के पूर्व तक भारद्वाज, शाकल्य, काशकृत्स्न इत्यादि आचार्यों ने बहुत से व्याकरणों की रचना कर ली थी। मैक्समूलर मानते हैं—'भारतीय आर्यजाति ही ऐसी रही जिसने यूनानी व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बिना किसी प्रकार की प्रेरणा प्राप्त किये 'व्याकरण विज्ञान' का अध्ययन किया और उसकी रचना की। जिस प्रकार ग्रीक भाषा के व्याकरण की उत्पत्ति होमर के काव्यों के आलोचनात्मक अध्ययन के कारण हुई, उसी प्रकार संस्कृत व्याकरण की उत्पत्ति ऋषियों की सबसे पुरानी पवित्र वाणी वेदों के अध्ययन के कारण हुई।

संस्कृत के पाणिनीय व्याकरण ( वार्त्तिक, भाष्य, वृत्ति, टीका ) के ग्रन्थों में संस्कृत वाङ्मय के नियमित अनियमित सभी रूपों को विश्लेषित करने का असाधारण प्रयत्न किया गया है। यह व्याकरण तथा इसकी टीकाएँ संस्कृत भाषा के विशुद्ध निरीक्षण-परीक्षणात्मक

विश्लेषण को पूर्णता तक पहुँचाती हैं। मैक्समूलर के मतानुसार 'सारे संसार की किसी भी जाति के विद्वान् व्याकरण-विज्ञान के क्षेत्र में पाणिनीय व्याकरण की बराबरी न कर सके। इतना ही क्यों कहा जाए, इस विषय पर तो यह कहा जा सकता है कि संसार के अन्य जाति के व्याकरणकार इस भारतीय व्याकरण के पास फटक भी नहीं सके हैं।' संस्कृत व्याकरण का एक चमत्कार प्रस्तुत-किया जा रहा है।

## संस्कृत की अपार शब्दनिधि

संस्कृत की अपार शब्दनिधि विश्व का अनुपम उदाहरण है। संस्कृत के केवल एक धातु से डेढ़ लाख शब्द व्युत्पन्न होते हैं जबकि कुछ प्रसिद्ध भाषाओं में भी इतने शब्द नहीं मिलते।

आप लोगों ने बाल्यावस्था में कहानियों में पढ़ा होगा कि जादू के सन्दूक को खोलने पर उसमें से सुविशाल भवन निकल पड़ा। किन्तु उसे पुनः उसी सन्दूक में भरकर घर ले जाना उस मनुष्य को असंभव हो गया। दूसरे दिन लोगों ने साश्चर्य देखा कि जहाँ वीरान जंगल था, वहाँ रातों-रात एक राजमहल खड़ा हो गया।

ठीक इसी प्रकार की जादू की पिटारी की चर्चा मैं आप लोगों के संमुख करने जा रहा हूँ। उसे खोलने पर उसमें से निकली अपार शब्दराशि का विशाल भवन आपके सामने खड़ा हो जाएगा।

संस्कृत की अपार शब्द-निधि के संबन्ध में आपको महामुनि पतञ्जलि द्वारा कही एक आख्यायिका सुनाता हूँ। ऐसा सुना जाता है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास देवराज इन्द्र शब्दविद्या का अध्ययन करने गये। बृहस्पति ने उन्हें एक हजार दिव्य वर्षों तक शब्द-विद्या पढ़ायी। एक दिव्य दिन मनुष्यों के एक वर्ष के समान होता है। इस प्रकार एक हजार दिव्य वर्षों का मतलब हुआ—मनुष्यों के तीन लाख साठ हजार वर्ष। इतने वर्षों तक बृहस्पति ने इन्द्र को एक एक शब्द का ज्ञान कराया। पर बृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला और इन्द्र जैसा

पढ़ने वाला ! तिस पर भी तीन लाख साठ हजार वर्षो का पठन-पाठन-काल ! फिर भी वे शब्दों का पार नहीं पा सके। तब आजकल के पढ़ने-पढ़ाने वालों और उनकी आयु के संबन्ध में तो कहना ही क्या ! मनुष्य बहुत अधिक जिया तो सौ साल !

अपार शब्द-निधि के प्रत्येक शब्द को कण्ठस्थ करना वस्तुत: हजारों वर्षों की अपेक्षा रखता है। बृहस्पति ने इन्द्र को एक हजार दिव्य वर्षों तक पढ़ाया था। संभवत: इन्द्र ने उसी शिक्षा के आधार पर विस्तृत व्याकरण की रचना की थी। पर आज वह उपलब्ध नहीं होता। ऐन्द्र व्याकरण नाम से उसका उल्लेख भर मिलता है।

एक हजार दिव्य वर्षों तक पढ़ाया गया छात्र अपनी विद्या को यदि संक्षिप्त से भी संक्षिप्त करके लिखेगा, तो भी उस विद्या को आत्मसात् करने में मनुष्य को कम से कम चालीस वर्ष तो लग ही जाएँगे। ऐन्द्र व्याकरण की क्लिष्टता और बृहत्कायता के कारण पाणिनि को संक्षिप्त तथा सर्वगुण-संपन्न व्याकरण की रचना करनी पड़ी। पाणिनीय व्याकरण के नियमों के आधार पर प्रत्येक जिज्ञासु हजारों वर्षों में कण्ठस्थ की जा सकने वाली अपार शब्दराशि को कुछ ही वर्षों में पचा सकने की स्थिति में आ जाता है।

### अपार शब्दराशि को निकालने की पद्धति

एक धातु से इस अपार शब्दराशि को निकालने की पद्धति के विषय में कुछ संकेत कर देना आवश्यक है। आर्यभाषाओं में धातु से कृत्प्रत्ययों का विधान किया जाता है। पुन: कृदन्त शब्दों से तद्धित प्रत्यय होते हैं।

यहाँ केवल कृत् और तद्धित प्रत्ययों की सहायता से बने शब्दों के एक कोश के विषय में बताया जा रहा है। कृदन्त अथवा तद्धितान्त शब्दों के साथ समास किये गये शब्दों को पादटिप्पणी में स्थान दिया जाएगा। धातु से कृत् प्रत्यय लगाकर कृदन्त शब्द बनाये गये हैं। कृदन्त शब्दों से तद्धित प्रत्यय लगाकर यथासंभव शब्दों की परिकल्पना की

गयी है। यथा— √ भू + ति ( क्तिन् ) नामक कृत् प्रत्यय का विधान करने पर 'भूति' 'विभूति' 'अनुभूति' 'प्रतिभूति' 'उद्भूति' आदि कृदन्त शब्द बनते हैं। इन कृदन्त शब्दों में मत् ( मतुप् ) प्रत्यय ( तद्धित ) लगाने पर 'भूतिमान्' 'विभूतिमान्' 'अनुभूतिमान्' आदि शब्द बनेंगे। इन तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों से भी भाववाचक तद्धित प्रत्यय 'ता' ( तल् ) के लगाने पर 'भूतिमत्ता' 'अनुभूतिमत्ता' आदि शब्द बन जाएँगे। इस प्रकार के सभी प्रत्ययों के संबन्ध में निदर्शन देते हुए हमने कुछ श्लोक बनाये हैं। उन श्लोकों के सहारे कोई भी जिज्ञासु संस्कृत की अपार शब्द राशि को निकाल सकेगा। इस शब्दराशि का अधिकांश भाग हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं में खपाया जा सकेगा।

## उपसर्ग

संस्कृत शब्दराशि के राशीकरण में उपसर्गों का बहुत बड़ा योग है। यद्यपि उपसर्गों की संख्या बाईस है, तथापि उनका प्रयोग बावन रूपों में हुआ है। उपसर्गों के परस्पर मेल से यह वृद्धि हुई है। इन बावन रूपों के अतिरिक्त भी प्रयोगानुसार संख्या बढ़ाई जा सकती है।

## शब्दराशि का आकलन

प्रत्येक धातु के दस लकारों से नौ प्रत्यय करने पर ९० शब्द ( तिङन्त रूप ) होते हैं। सन्नन्त, णिजन्त ( प्रयोजक ), यङन्त तथा यङ्लुगन्त प्रकरण के प्रत्येक धातु से दस लकारों में नौ प्रत्यय लगाने पर ९० शब्द हुए। इस प्रकार ९०×५=४५० शब्द। २५ कृदन्त शब्दों के प्रत्येक शब्द से २० तद्धित प्रत्यय लगाने पर २५×२०=५०० शब्द हुए। तिङन्त, सन्नन्त आदि पाँचों प्रकरणों के धातुओं के लकारों से कृत् तथा तद्धित प्रत्यय लगाने पर २५०० शब्द बनते हैं। इस प्रकार ४५०+५००+२५००=३४५० शब्दों में कम से कम २० उपसर्ग लगाने पर ६९००० उनहत्तर हजार शब्द निष्पन्न होते हैं। स्मरणीय है कि कुछ विशिष्ट धातुओं से ५० उपसर्ग-समूह भी लगते हैं। इस प्रकार के एक धातु से एक लाख साढ़े बहत्तर हजार शब्द व्युत्पन्न होंगे।

## व्यावहारिकता

शब्दों की सीमा किसी ने नहीं देखी। व्याकरणशास्त्र के अध्येता जानते हैं कि पाणिनीय धातुपाठ के लगभग दो हजार धातुओं में से सभी धातुओं के दसों गणों के दसों लकारों के रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। विलियम ड्वाइट ह्विट्नी के अनुसार पाणिनीय धातुपाठ के केवल नौ सौ धातु ही प्रामाणिक अथवा प्राप्तप्रयोग हैं। प्राप्तप्रयोग नौ सौ धातुओं से अतिरिक्त ११ सौ धातुओं के दसों लकारों के रूप गुरुओं द्वारा आज भी पढ़ाए जाते हैं। प्रक्रिया-ग्रन्थों में इनके पढ़ने-पढ़ाने की परम्परा चली आ रही है। व्यवहार में अवश्य ही ९०० धातुओं से अतिरिक्त धातुओं का प्रयोग नहीं होता। सन्नन्त, यङन्त और यङ्लुगन्त प्रयोगों के व्यवहार में भी संस्कृतज्ञों तक में पर्याप्त कार्पण्य है।

## उपयोगिता

इस वैज्ञानिक युग में नूतन भावों का आविर्भाव हुआ है। उन भावों को अभिव्यक्त करने वाले नूतन शब्दों का अन्वेषण चल रहा है। प्रायः अनधिकारी जन ही शब्दों के भाग्यविधाताओं के अग्रणी बने बैठे हैं। सबसे पहले डा० रघुवीर ने संस्कृत शब्दों का आश्रय लेकर अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों की हिन्दी बनाने का श्लाघनीय प्राथमिक प्रयास किया था।

इस धातुनिर्भर शब्द कोश में संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध धातुओं से यथा-सम्भव व्युत्पाद्य शब्दों को सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है[1]। इस के प्रकाशित होने पर चार उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी—

---

१. 'पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा' नामक ग्रन्थ संस्कृत विश्वविद्यालय से सन् ६५ में छप चुका है। उसमें इण्डो-यूरोपियन्, वैदिक, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और प्रादेशिक भाषाओं के धातुओं पर विचार किया गया है। हिन्दी धातुओं का इतिहास जानने के लिए इससे अच्छा कोई ग्रन्थ नहीं है।

१. संस्कृत भाषा की व्युत्पाद्य अपार शब्दनिधि का अङ्कन, २. हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं की शब्द-समृद्धि, ३. पारिभाषिक कोशों के संपादकों को यथेष्ट सहायता एवं पथ-प्रदर्शन, ४. वक्ताओं कवियों तथा जिज्ञासुओं के व्युत्पादन-कौशल में सहायता। इस प्रकार प्रत्येक भारतीय को शब्दराशि के व्युत्पादन की क्षमता बढ़ाने के लिए संस्कृतका अध्ययन अनिवार्यतया करना पड़ेगा।

---

## हिन्दी के क्रियाविशेषण 'सही' शब्द की परम्परा

संस्कृत की शब्दपरम्परा हिन्दी में इस प्रकार खपी है कि हिन्दी के धुरन्धर विद्वान् भी संस्कृत की जानकारी के अभाव में उसे समझने में असमर्थ रहते हैं।

'साधीयः' शब्द की क्रियाविशेषण-पराम्परा हिन्दी भाषा में आज भी सुरक्षित है। वहाँ 'सही' शब्द विशेषण और क्रियाविशेषण (अथवा अव्यय) दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। विशेषण 'सही' शब्द अरबी भाषा का है। उसके अर्थ हैं—१. सत्य, २. प्रामाणिक, ३. शुद्ध (तथा हस्ताक्षर)। यद्यपि 'फरहंग आसफिया' नामक कोश में अव्ययार्थक इस सही शब्द को अरबिक 'सहीह' शब्द का विकृत रूप स्वीकृत किया है, तथापि 'नूर-उल्-लुगात' ग्रन्थ में इस अर्थ के सम्बन्ध में कोई व्युत्पत्ति नहीं दिखायी गयी[१]। इसके अनन्तर ऋज्वर्थक दूसरा 'सही' शब्द मिलता है जो वस्तुतः पर्सियन है[२]। इसका विशुद्ध रूप होगा—सिही। ऐसा होने पर भी हिन्दी और उर्दू भाषा में व्यवह्रियमाण उपर्युक्त अर्थ वाले 'सही' शब्द का पर्सियन् भाषा के इस 'सिही' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता।

---

१. कोशकला' १०२ पृ०।

२. सही Erect (cypress); fresh, young (Persion English Dictionary, 712).

उक्त अर्थों में व्यवहृत 'सही' शब्द को फेलन महाशय ने √अस् धातु से व्युत्पादित किया है। श्रीरामचन्द्र वर्मा महाशय ने तो अव्ययार्थक और क्रियाविशेषणार्थक 'सही' शब्द को ( २००९ वैक्रम संवत्सर में ) हिन्दी के √सहना धातु से व्युत्पादित किया[1]। ऐसा करने पर भी आत्मसंतोष न होने के कारण उन्होंने पुनः इसकी व्युत्पत्ति 'स्थित' और 'स्थिति' शब्दों से दिखाने की चेष्टा की[1]। ग्यारह वर्ष पूर्व श्रीवर्मा जी ने लिखा[2]—"सही शब्द के इस प्रकार के प्रयोग भारतवर्ष में बहुत समय से अभी तक प्रचलित हैं ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। उसकी व्युत्पत्ति भी स्वतन्त्र होनी चाहिए। जो हो, यह विषय विद्वानों के लिए विचारणीय है"। इस प्रकार श्री वर्माजी अपनी व्युत्पत्तियों से स्वयं असंतुष्ट प्रतीत होते हैं।

---

१. कोशकला' १०२ पृ०।

२. फिर भी 'सही' के कुछ प्रयोगों के सम्बन्ध में एक विकट प्रश्न रह ही जाता है। हम कहते हैं—आप तो वहाँ से इनकार ही करते थे, फिर भी आप वहाँ गये सही। 'सही' के कुछ इसी प्रकार के प्रयोग हमारे यहाँ के मध्ययुगीन साहित्य में मिलते हैं। यथा—

( क ) प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही ( तुलसीदास )

( ख ) परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुञ्ज सही ॥ ,,

ऐसे अवसरों पर 'सही' का प्रयोग हिन्दी के 'ही' अव्यय की तरह किसी बात पर जोर देने के लिए ही होता है। आशय यही होता है कि कही बात अवश्य और निश्चित रूप से घटित हुई। ऐसी अवस्था में इसका संबन्ध अरबी वाले विशेषण 'सही' से स्थापित करना कुछ अधिक तर्क-संगत नहीं जान पड़ता। मेरा ऐसा विश्वास है कि 'सही' के इस प्रकार के प्रयोग हमारे यहाँ बहुत पहले से चले आ रहे हैं और उनकी व्युत्पत्ति भी कुछ स्वतन्त्र होनी चाहिए। जो हो, यह विषय विद्वानों के लिए विचारणीय है ( श्री रामचन्द्र वर्मा : 'आज' साप्ताहिक विशेषाङ्क, १० पृ०, १३ मार्च, ११६६ ई० )।

वस्तुतः हिन्दी भाषा का क्रियाविशेषण सही शब्द किसी परम्परा की ओर इङ्गित करता है। यह पाणिनि-निर्दिष्ट और पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त 'साधीयः' क्रियाविशेषण[1] का >साहीय >साही >'सही' रूपान्तर है। प्राकृत इत्यादि भाषाओं में 'साधु' शब्द के धकार का हकारत्वेन परिणाम सुप्रतिष्ठित है[2]। हिन्दी भाषा में आज भी वैश्य अर्थ के वाचक 'साव' <'साहू' (<'साधु') शब्द सुप्रसिद्ध ही हैं। काशिका इत्यादि प्राचीन वृत्तियोंमें उसका व्याख्यान, मध्यकालिक हिन्दी भाषा में उसकी परम्परा का संरक्षण और आज भी उसका व्यवहार यह सब इतिहासवेत्ताओं के मनस्तोष के लिए पर्याप्त होगा। काल-क्रमेण हिन्दी भाषा के सही शब्द में अनुमत, अत्यर्थ, सत्तम तथा शोभन अर्थ अनुगत हो गये।

भारतीय परम्परा के समान क्रियाविशेषण 'साधीयः' शब्द की प्रयोग-संरक्षा ईरानी भाषाओं में हुई या नहीं, मैं यह कहने में असमर्थ हूँ क्योंकि अवेस्ता भाषा में इष्ठान्त ( Superlative ) हाइ-दिश्त (<साधिष्ठ ) ही का प्रयोग मिलता है[3]।

## संस्कृत प्रादेशिक भाषाओं में रची-पची

परम्परा विच्छिन्न होने के कारण वैदिक तथा संस्कृत भाषा के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ लगना कठिन हो रहा है। जर्मनी के रॉथ ने ऐसे संदिग्ध और पेचीदे शब्दों के अर्थों को निश्चित करने के लिए वेद-परवर्ती ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता इत्यादि प्राचीन भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया था। इस दिशा में उन्होंने

---

१. विशेष ज्ञान के लिए देखिए 'तद्धितान्ताः केचन शब्दाः' ग्रन्थ।

२. साहुरे कण्णऊरअ साहु ( <साधु रे कर्णपूरक साधु )—मृच्छ० १६१ पृ० [ चौ० सं० ]

३. Christian Bartholomae: Altiranisches Worterbuch, page 1802,

आंशिक सफलता भी प्राप्त की थी। किन्तु उक्त पद्धति सर्वात्मना सफल सिद्ध नहीं हुई।

सन् ५९-६३ के मध्य जब मैं पाणिनीय धातुओं पर अनुसन्धान-कार्य कर रहा था, मेरा ध्यान प्रादेशिक भाषाओं की ओर गया। मैंने देखा कि सम्पूर्ण वैदिक, लौकिक संस्कृत, इण्डो-यूरोपियन तथा भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में पाणिनीय धातुओं के कुछ प्रयोग नहीं मिलते हैं। अतः उनके अर्थों का निश्चय करना एक बड़ी समस्या है। डब्ल्यू. डी. ह्विट्नी इस समस्या को जब नहीं सुलझा सके, तब उन्होंने इस प्रकार के धातुओं को भर्ती का घोषित कर दिया। किन्तु उनके आलोचक श्री गेअर्ग ब्यूलर ने डब्ल्यू. जेड. के. एम. नामक जर्नल के ७वें खण्ड में एक लेख लिखकर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया कि वैदिक और लौकिक संस्कृत के अधिकांश प्रयोग बोलचाल की भाषा में खप गये हैं।

ब्यूलर ने जो बात कही, वह यूरोपियन भाषाओं के विषय में भी चरितार्थ होती है। अतः उनकी उक्ति सामान्यतः सभी भाषाओं के लिए लागू होती है। श्री ब्यूलर के अनन्तर एक विद्वान् श्री ओतो फ्रांक ने पालि वाङ्मय के अध्ययन से ब्यूलर के मत का समर्थन किया। यह अध्ययन केवल पाणिनीय धातुपाठ तक सीमित रहा। वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत भाषा, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, प्रादेशिक भाषाओं तथा यूरोपियन भाषाओं के मन्थन से निष्कर्ष निकालने के प्रयास नहीं किये गये। अपने दीर्घकालीन अध्ययन अनुसन्धान के आधार पर इस निबन्ध में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनसे ज्ञात हो सकेगा कि संस्कृत वाङ्मय किस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं में रच-पच गया।

ऋग्वेद के प्रथम तथा पञ्चम मण्डल में 'योक्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। सायण अपने भाष्य में योक्त्र का अर्थ रस्सी करते हैं। पाँचवें मण्डल में इसका अर्थ 'नियोजन-रज्जु' कह देते हैं। उन्हें स्पष्टतः विदित नहीं हो सका कि 'योक्त्र' किस प्रकार की रस्सी होती थी। 'रथ में नियोज्यमान अर्थों के योक्त्र का तुम आश्रय लेते हो' इस अर्थ के मन्त्र में प्रयुक्त योक्त्र को सायण ने नियोजन-रज्जु समझा। मैकडानल और कीथ ने

वैदिक इण्डेक्स में इसका अर्थ किया है—'रथ को संनद्ध करने के लिए प्रयुक्त नध्री ।' अमरकोष के एक टीकाकार ने इसका अर्थ किया है—'नाथ' । इस प्रकार आपने देखा कि उल्लिखित सभी टीकाकार उक्त शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्र में बैल के गले के दोनों ओर से घेरते हुए विशिष्ट प्रकार की एक रस्सी के दोनों छोरों को लकड़ी के जुए में बाँध देते हैं, उसे 'जोत' (< योक्त्र) के रूप में अशिक्षित जनता भी जानती है। पर वह संस्कृत के ज्ञान के अभाव में प्रादेशिक शब्द के स्वरूप को पहचानने में असमर्थ रहती है।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य में 'तोकम्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद तथा संस्कृत साहित्य में पुत्र के अर्थ में हुआ है, पर संस्कृतोत्तर मध्यकाल में इसका विकास तथा प्रयोग सर्वथा लुप्त हो गया। पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। बुन्देली भाषा में यह 'टोंका' के रूप में उपलब्ध है। तनय अर्थ वाले टोंका शब्द का मूल 'पश्वे तोकाय तनयाय जीवसे' ( ऋ० १०, ३२, १२ ) में प्राप्त होता है। पर शतपथब्राह्मण में यह प्रजा के रूप में आया है। श्रीमद्भागवत में पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त है। बुन्देली भाषा ने दीर्घकालीन परम्परा को सुरक्षित रखा। बुन्देली की बनपरी शाखामें टोंका ( ट्वाका ) का अर्थ-विकास हो गया और वह 'शैतान लड़का' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

ऐतरेय ब्राह्मण से लेकर अशोक के शहबाजगढ़ी के शिलालेखों तक में प्रयुक्त जाति और देश के वाचक पुलिन्द शब्द का अर्थ लगना आज कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता, यदि बुन्देली का बुन्देल शब्द जीवित न रहता। इस बुन्देल शब्द की सहायता न लेने पर ए० के० कनिंघम महोदय पुलिन्द देश और जाति का पता नहीं बता सके थे। ( इसके विषय में विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य 'बुन्देलखण्ड की प्राचीनता' नामक ग्रन्थ )।

ऋग्वेद में ( ४, ५७, ८; १०,१०१,३;४ ) में हल के अर्थ में सीर शब्द का उल्लेख आया है। अथर्ववेद ( ६, ९१, १ ), शतपथ-

ब्राह्मण ( ७, २, २, ६ ), तैत्तिरीय संहिता और काठक संहिता ( १५, २ ) में इसे खींचने के लिए प्रयुक्त छः, आठ, बारह यहाँ तक कि चौबीस बैलों का उल्लेख है। मैकडानल तथा कीथ ने लिखा है कि वेदकालीन हल विशाल और भारी होता था। हल खींचने वाले पशु 'बैल' होते थे, जिन्हें निस्सन्देह वरत्राओं में संनद्ध किया जाता था। हल का इतना विवरण देने के पश्चात् वे लिखते हैं कि हल के विभिन्न भागों के सम्बन्ध में अत्यन्त कम ज्ञात है।

वस्तुतः ऋग्वेद ( ४, ५७, ८ ) के मन्त्र में 'शुनासीर' में सीर शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ हल न होकर वायु है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में ( १०, १०१, ३ ) 'सीर' का स्वतन्त्र प्रयोग अवश्य हुआ है। वह बहुवचन में है। यथा—

> युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
> गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥

इस मन्त्र में हल में बैलों को जोतने से लेकर वपन और लवन तक की बात कही गयी है। यह वर्णन कृषि का एक सामूहिक चित्र खींचता है। परवर्ती वैदिक साहित्य में छः से लेकर चौबीस बैलों तक को एक हल में जोतने की भी चर्चा आयी है। इस सब का मन्तव्य बुन्देली भाषा के 'छीर' शब्द का अर्थ समझने पर स्पष्ट हो जाता है। बुन्देली में यह शब्द कृषि के किसी एक उपकरण या अवयव को बोधित नहीं करता, अपितु उसके सम्पूर्ण चित्र को खींचता है। छीर शब्द भूमि, बैल, हल, सब का अर्थ अभिव्यक्त करता है। दायँ की गड़ावन में ६ से लेकर २४ बैल तक अवश्य बाँधे जाते हैं। यह भी छीर है। हलों को देखकर लोग प्रश्न करते हैं–'यह किसकी छीर है ?' इत्यादि। इस छीर का काम करने वाले चमार 'छीरोई' तथा स्त्रियाँ 'छीरोन' के रूप में संबोधित होती हैं। संबोधित व्यक्ति इस संबोधन को सुनकर गर्व का अनुभव करता है। इस प्रकार अद्यावधि अस्पष्ट अर्थवाले इस वैदिक शब्द के अर्थ को बुन्देली 'छीर' शब्द पूर्णतः स्पष्ट करने का सौभाग्य रखता है।

वेद इतिहास-पुराणकालीन शिल्प, शस्त्रास्त्र, व्यवसाय आदि से संबद्ध प्रभूत शब्द-राशि पर प्रकाश डालने के लिए प्रादेशिक भाषाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका तभी निभा सकेंगी जब संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य होगा।

वाल्मीकीय रामायण में तृतीय काण्ड के २९ वें अध्याय के दशम श्लोक में 'ब्राह्मणी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कोई भी टीकाकार इसका स्पष्ट अर्थ नहीं कर सका। 'लाल पूँछ युक्त छिपकली' अर्थ करके अपने प्रयास की इतिकर्तव्यता सभी ने मान ली। यह शब्द अपने विस्तृत विवरण के प्रकाशनार्थ बुन्देली शब्द 'बिरामनी' की सहायता की अपेक्षा रखता है। जिस प्रकार वर्षाकाल में भूमिगर्भ से अकस्मात् 'छीता की लटें' नामक छिपकुली-नुमा सर्पाकार लम्बे और सुन्दर कीड़े प्रकट होते हैं, उसी प्रकार 'बिरामनी' नामक यह कीड़ा भी बुन्देलखण्ड की भूमि में प्रकट होता है। इसे छिपकुली इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह दीवालों पर चढ़ता नहीं देखा गया। यह किसी को दंश आदि द्वारा क्षति नहीं पहुँचाता तथा गुलाबी रंग एवं मखमली ढंगवाला दर्शनीय यह सरीसृप छिपकुली के आकार का होता है। लोक इसे 'बिरामनी' कहकर क्षति नहीं पहुँचाता है, ऐसा करने में पाप समझता है। वाल्मीकीय रामायण में उल्लिखित इस सरीसृप के लिए 'बिरामनी' शब्द केवल बुन्देली जैसी कुछ भाषाओं में ही उपलब्ध होता है। देशीभाषा में 'बंभणी' शब्द कीट-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त अवश्य हुआ है, पर अर्थ अस्पष्ट है (देशी० ८, ६३-७५)। प्राकृत भाषा का यह शब्द भोजपुरी भाषा में प्रयुक्त होता है। बुन्देली में साक्षात् संस्कृत से यह शब्द लिया गया है। इस प्रकार संस्कृत के ब्राह्मणी तथा प्राकृत के 'बंभणी' शब्दों के अर्थों को स्पष्टतया अवगत करने के लिए बुन्देली के बिरामनी शब्द का योग अत्यन्त सहायक है। नेपाली भाषा में 'भानेमुङ्ग्रो शब्द इसी ब्राह्मणी के लिए प्रयुक्त होता है। उसका 'भाने' अंश' ब्राह्मणी से अपभ्रष्ट प्रतीत होता है (द्रष्टव्य-नेपाली शब्दकोष, पृ० सं० ७८६, संपादक

बालचन्द्रशर्मा, प्रकाशक-रायल नेपाली एकेडमी, काठमाण्डू नेपाल, प्रथम संस्करण २०१९ वै०)। नेपाल के अन्य भाग में इसे भाउसुली भी कहते हैं।

पाणिनीय तथा उनके परवर्ती संस्कृत साहित्य में 'कुस्तुम्बुरी' तथा 'कुस्तुम्बीर' शब्दों का उल्लेख हुआ है। टीकाकारों ने इन शब्दों के विविध अर्थ कर डाले। मेदिनी कोश ने केवल 'तुम्बुरी' शब्द का अर्थ किया है—धनियाँ। सुश्रुत तथा वैद्यकरत्नमाला में 'कुस्तुम्बरी' का प्रयोग धनियाँ के अर्थ में किया गया है। प्राकृत भाषा में इसे कुत्थंभरी, तेलुगु में कोत्तिमिर, कुमायूँ में 'तिम्बूर', पंजाबी में तिम्बर और तीम्रू काश्मीरी में तींबर, हिन्दी शब्दसागर में तुंबुरी का अर्थ धनियाँ करके उसे धनियाँ के आकार का एक विशिष्ट प्रकार का मसाला बताया है, जो दाँत की वेदना के शमनार्थ प्रयुक्त किया जाता है। मराठी में उसे कोशिबीर, गुजराती में कोथनी तथा कोथमीर कहते हैं। पर यह किस प्रकार का धनियाँ है, यह कहीं भी प्राप्त नहीं है। अधिकांशत: बीज वाले धनियाँ की ही चर्चा की गयी है। मराठी में 'कोशिम्बीर' शब्द दही आदि पड़े हुए सलाद के अर्थ में पाया जाता है। किन्तु वह भी संस्कृत साहित्य के कुस्तुम्बुरु अथवा कुस्तुम्बरी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ है। बुन्देली भाषा में 'कोथमीर' शब्द हरे धनियाँ ( धनियाँ की पत्ती ) के अर्थ में अद्यापि प्रयुक्त होता है। यह सलाद के अर्थ को भी प्रकट कर देता है। इस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं का अपना अनितरसाधारण महत्त्व अब भी सुरक्षित है। संस्कृत के अध्ययन की अनिवार्यता के द्वारा प्रादेशिक भाषाओं की सहायता से देश को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी जा सकती है। इस भाषा का गम्भीर अध्ययन अत्यावश्यक है।

पाणिनीय धातुपाठ में लवन=काटना और पवन=पवित्र करना अर्थ में 'पल्पुल' धातु का उल्लेख है। इस धातु के प्रयोग काठक, तैत्तिरीय, शौनक तथा पैप्पलाद संहिताओं में पढ़े गये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसकी व्याख्या में सायण ने प्रक्षालन अर्थ किया है। भट्ट

भास्करभाष्य में इसे स्नानकर्मा बताया गया है। ये दोनों भाष्य पाणिनि के द्वितीय अर्थ 'पवन' की ओर ही इंगित करते हैं। पाणिनि का प्रथम अर्थ मुझे किसी वाङ्मय में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सभी वैयाकरणों ने इस अर्थ को उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने इसे पप्पूल पढ़ा है। काशकृत्स्न ने √पल ही माना है। सभी वैयाकरणों ने दोनों अर्थ दिये हैं। केवल दुर्ग ने 'लवन' के स्थान पर 'पतन' अर्थभेद दिखाया है। किन्तु 'लवन' अर्थ का कोई पाठभेद नहीं मिलता। बहुत समय तक ( लगभग एक वर्ष पूर्व तक ) मैं इस 'लवन' अर्थ की संगति नहीं लगा पाया था। इस कारण 'बुन्देलखण्ड की प्राचीनता' नामक अपने अनुसन्धानप्रधान ग्रन्थ के ९३ वें पृष्ठ पर मैंने लवन का पाठभेद 'प्लवन' बता दिया। प्रमाण प्राप्त हो गया तैत्तिरीय ब्राह्मण का। उसमें प्लु धातु के प्रयोग के अनन्तर उसी अर्थ में पल्पुल पढ़ा गया था। सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण के पल्पूलयति का अर्थ 'प्लावयति' किया है। प्लावन क्रिया शोधन की पूर्ववर्तिता को सूचित करती है। अतः मैं 'लवन' को 'प्लवन' का पाठभेद मान बैठा। किन्तु एक वर्ष पूर्व जब मैं बुन्देलखण्ड गया और वहाँ लवन= काटने के अर्थ में 'पौलबौ' शब्द सुना, तो सम्पूर्ण संदेह निराकृत हो गये। वर्षों की ग्रन्थि एक क्षण में खुल गयी। इसी के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि काशकृत्स्न धातुपाठ में पल्पूल के स्थान पर केवल पल क्यों पढ़ा गया। पल्+पूल इन दो शब्दों को मिलाकर √पल्पूल धातु बना है। बुन्देली भाषा में पूल धातु-खण्ड से √पौल( बौ ) धातु विकसित हुआ है। इस प्रकार हमने देखा कि संस्कृत भाषा किस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं में रच-पच गयी।

चतुर्भाणी में 'डिण्डी' शब्द का अत्यन्त मनोरम प्रयोग हुआ है। गुजराती भाषा में यह बाँके छैला के अर्थ में मिल जाता है। अंग्रेजी भाषा में भी डैण्डी ( Dandy ) शब्द छैला तथा स्मार्ट के अर्थ में मिलता है। कोषकार इसे अज्ञातमूल बताते हैं, कुछ कोषकार भारतीय-स्रोतस्क मानते हैं। चतुर्भाणी की हिन्दी व्याख्या का संशोधन करते समय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को इस शब्दके अर्थका स्पष्ट ज्ञान चिरगाँव

जाने पर हो सका। उन्होंने लिखा—"बुन्देलखण्ड की लोकोक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है–"सौ डण्डी और एक बुन्देलखण्डी"। बुन्देली भाषा का 'डण्डी' शब्द 'गुण्डा' अर्थ को अभिव्यक्त कर रहा है। उक्त लोकोक्ति का अर्थ हुआ कि सौ गुण्डे एक तरफ और एक बुन्देलखण्डी दूसरी तरफ। छैल चिकनियाँ व्यक्ति ही बुन्देलखण्ड में गुण्डे कहे जाते हैं। अतः चतुर्भाणी का 'डिण्डी' शब्द ही बुन्देली डंडी का मूल है, दण्डी शब्द का नहीं। डिण्डी के अर्थ का स्पष्टीकरण बुन्देली भाषा के शब्द के बिना संभव न हो पाता। बुन्देली डंडी का दूसरा अर्थ 'चुगुलखोर' भी है, जो अन्यत्र अनुपलब्ध है। तदनुनुसार 'सौ डंडी और एक बुन्देलखण्डी' का अर्थ हुआ—'सौ चुगुलखोर एक तरफ और एक बुन्देलखण्डी दूसरी तरफ—दोनों बराबर हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मुझे बताया कि हर्षचरित नामक ग्रन्थ में उल्लिखित 'यवाङ्कुर' शब्द का अर्थ उन्हें कई मासों तक नहीं लग सका था। संस्कृत के किसी भी टीकाकार को इसका अर्थ नहीं लगा है। टीकाकारों ने कई कूट कल्पनाएँ कीं पर वे बाण के अर्थ को छू नहीं सकीं। पूरा वाक्य इस प्रकार है—'सेकसुकुमारयवाङ्कुरदन्तुरैः पञ्चास्यैः कलशैः, कोमलवर्णिकाविचित्रैरमित्रमुखैश्च उद्‌भासितपर्यन्ताम्'। इसमें 'पञ्चास्यैः' का कावेल ने पाँच मुँह वाले ( घड़े ) और काणे ने सिंहमुखी अर्थ किया है। पञ्चास्य का एक अर्थ सिंह है, पर यहाँ पर दोनों अर्थ नहीं हैं। पञ्चास्य का अर्थ चौड़े मुँह वाला है। डा० अग्रवाल ने मुझे बताया कि चिरगाँव में वे विजयादशमी के अवसर पर मैथिलीशरण गुप्त के घर गये थे। वहाँ उन्होंने जवारों की प्रथा देखी।

बाणभट्ट के ग्रन्थ में इसी प्रथा की ओर इंगित है। वह इस प्रकार है—मांगलिक अवसरों के लिए स्त्रियाँ घड़ों में मिट्टी डालकर जौ बो देती हैं और इतना पानी डालती हैं कि मिट्टी तर रहे। उस घड़े को सूरज की धूप नहीं दिखाते, अँधेरी कोठरी में रखते हैं, तब उसमें अंकुर फूटकर बढ़ने लगते हैं। दूसरे-तीसरे दिन आवश्यकतानुसार पानी का सेक या छिड़काव करते रहते हैं। लगभग दस दिनों में यवांकुर काफी बढ़ जाते हैं। दशहरे के अवसर पर जवारों को माङ्गलिक मानकर

कानों में लगाते हैं। दशहरा यवांकुरों का विशेष पर्व है। झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ जवारों के चौड़े मुँह के घड़े या मिट्टी के पात्र सिर पर रखे हुए नृत्यगान के साथ नगर या ग्राम को उत्सव-यात्रा करती हैं। हरे-पीले यवांकुर अत्यन्त सुहावने लगते हैं। अग्निपुराण में जवारों को मंगलांकुर भी कहा गया है। उनसे चतु:स्तम्भ-वेदिका सजाई जाती थी। बाणभट्ट का लक्ष्य इसी प्रकार के जवारों से भरे हुए मिट्टी के घड़ों से है। जवारे बोने के लिए चौड़े मुँह के पात्र ही लिए जाते हैं। उन्हीं के लिए बाण का पंचास्यैः ( चौड़े मुँहवाले ) विशेषण है। अमरकोश ( रामाश्रयी टीका ) में पंचास्य का यह अर्थ स्पष्ट है—( पञ्चम् = विस्तृतम् आस्यम् अस्य )। बाणभट्ट का पहला विशेषण 'सेकसुकुमारयवांकुर-दन्तुरैः' भी सार्थक हो जाता है। सेक का अर्थ हलके पानी का हाथ या छींटा है। सुकुमार पद इसलिए है कि जवारे नौ-दस दिनों से अधिक के नहीं होते। दन्तुर इसलिए कहा गया है कि वे घड़े के बाहर निकल आते हैं। इस प्रकार जवारों से भरे हुए घड़े तैयार हो जाने पर उन्हें रंगीन मिट्टी ( खड़िया ) से हलका पोतकर मण्डप की सजावट के लिए देवी के आस-पास रख दिया जाता था। ( खड़िया की यह पुताई कुम्हार घड़े को पकाने से पूर्व ही कर लेते हैं )।

बाणभट्ट के उक्त वाक्य में दूसरा पेंच है—'अमित्रमुख' विशेषण। कावेल, काणे और शंकर तीनों ने ही अमित्र का अर्थ शत्रु किया है। 'शत्रु की तरह भयंकर मुख वाले' यह अर्थ कलशों के लिए असंगत है। लगता है उन्होंने जवारे उगाने की प्रक्रिया नहीं देखी। वे अँधेरे में उगाये जाते हैं। यही अमित्रमुख का तात्पर्य है। जिन्होंने मित्र = सूर्य का मुख नहीं देखा था, जिनके मुख में सूर्यप्रकाश नहीं गया था, अथवा जो सूर्याभिमुख नहीं हुए थे, ऐसे यवांकुरों से सुशोभित थे वे वेदिकलश।

समयसूचक तथा जलोदञ्चक घटी ( यन्त्र ) के अतिरिक्त भी संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में एक घटी शब्द पात्र के अर्थ में प्रचलित रहा है। कुछ शताब्दियों से इसका प्रयोग संस्कृत के ग्रन्थों में नहीं आ रहा है। यह वह पात्र है, जिसका व्यवहार हम दैनिक जीवन में करते हैं।

किसी संस्कृतज्ञ से 'लोटा' की संस्कृत पूछी जाए, तो वह 'जलपात्रम्' ही कहेगा। जल के बड़े-से-बड़े पात्र से लेकर छोटे-से-छोटे पात्र तक सभी को जलपात्र कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि भारतवर्ष की प्राचीन भाषा में इसके लिए कोई शब्द न हो। किन्तु संस्कृत भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जाने के कारण अनेक शब्द या तो अव्यवहृत और विस्मृत हो गये अथवा साहित्य में अप्रयुक्त होने के कारण नष्ट हो गये। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्रादेशिक भाषाओं की सहायता से ऐसे शब्दों का संस्कृत में पुनरावाहन अपेक्षित है। यद्यपि घटी शब्द संस्कृत साहित्य से लुप्त नहीं हुआ, तथापि व्यवहारातीत तो हो ही गया है। इसका ठीक-ठीक अर्थ बताने में प्रादेशिक भाषाएँ अत्यन्त सहायक हैं। बुन्देली दो शब्दों का प्रयोग संप्रति भी हो रहा है—

१. गड़ई तथा २. घंटी। गड़ई शब्द लोटे के लिए और घंटी शब्द लुटिया के लिए प्रयुक्त होता है। घट्ई > घड़ई > गड़ई; तथा घटी > ( स्वयंभू अनुस्वार ) > घंटी।

अथर्ववेद में सभावाचक शब्दों के साथ 'अस्थानी' शब्द का उल्लेख हुआ है। किन्तु यह शब्द किस सभाविशेष के अर्थ को बताता है—इसका विवरण अनुल्लिखित है। अमरकोष में 'आस्थानी' तथा 'आस्थान' शब्दों का प्रयोग सभा के अर्थ में हुआ है। किन्तु अमरकोषकार अथवा उनके टीकाकारों ने 'आस्थानी' का वास्तविक अर्थ नहीं बताया। बुन्देली भाषा में हमें 'अथाई' शब्द मिलता है। यह बुन्देली गीतों में भी प्रयुक्त होता है—'लगी अथाई' इत्यादि। वहाँ इसका अभिप्राय है—चौपाल या ग्राम की छोटी सी वह सभा है, जो सायंकाल जमती है। 'समराइच्च-कहा' नामक ग्रन्थ में 'अत्थाइया' का प्रयोग गोष्ठीमण्डप के अर्थ में हुआ है। कुमारपालचरित में 'अत्थाणी' शब्द सभास्थान के अर्थ में आया है। किन्तु यह सभा किस प्रकार की थी—इस विषय में सभी ने मौन धारण कर रखा है। बुन्देली 'अथाई' शब्द इस शब्द के अर्थ को स्पष्ट करता है कि यह सभा सायंकाल ही आयोजित की जाती थी। हर्ष ने रत्नावली में इसका संकेत किया है—'आस्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने

संपतन्' किन्तु किसी कोषकार अथवा टीकाकार ने परम्परा ज्ञात न होने के कारण इस शब्द का यह अर्थ नहीं लिखा।

चिरकाल तक पिता के घर में रहने वाली अविवाहिता युवती के लिए संस्कृत वाङ्मय में 'सुवासिनी' शब्द मिलता है। अमरकोषकार ने 'चिरण्टी तु सुवासिनी' (२,६,९) लिखा है। भानुजिदीक्षित (रामाश्रय) ने चिरण्टी को व्याख्या में लिखा है—पिता के घर से जो पति के घर देर से जाए। मेदिनीकोषकार तथा रुद्र ने द्वितीय वय की स्त्री को चिरण्टी ( चिरिण्टी ) बताया है। भानुजिदीक्षित ने अपनी व्याख्या के अन्त में लिखा कि जो स्त्री प्राप्तयौवना होने पर भी मैके में रहती है, उसे चिरण्टी या सुवासिनी कहते हैं।

मनुस्मृति ( ३, ११४ ) में भोजन के प्रसंग में ऐसे व्यक्तियों की चर्चा की गयी है, जिन्हें अतिथि के पूर्व भोजन करा देने की छूट दी गयी है। कुमारियों, रोगियों तथा गर्भिणी स्त्रियों के साथ 'सुवासिनी' शब्द भी आया है। कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका में 'सुवासिनी' का अर्थ नवोढ़ा बताया है। याज्ञवल्क्यस्मृति ( १, १०५ ) में 'स्ववासिनी' पाठ आया है। मिताक्षरा टीका में उसका अर्थ किया गया है—'पितृगृह में स्थित परिणीता'।

उक्त दोनों टीकाकार अमरकोष के अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ दे रहे हैं। अमरकोष ने यद्यपि 'विवाहित या अविवाहित' की चर्चा नहीं की है, तथापि उनका संकेत उस अविवाहित युवती की ओर है, जो चिरकाल तक पिता के घर में रहती है। यदि विवाहित होने पर पितृगृह में रहने का संकेत रहता, तो वह पत्नी जो पतिगृह विलम्ब से जाए, ऐसा कहना चाहिए था। विवाहिता होने के अनन्तर पितृगृह में न तो अधिक दिनों तक पिता ही रखना चाहता है और न पति या उसके गुरुजन। बाल्यावस्था में अथवा शिशु-अवस्था में विवाहों का प्रचलन प्राचीन काल में था। इस प्रकार की विवाहित कन्याएँ पतिगृह को स्वभावतः विलम्ब से जाती रही होंगी। ऐसी कन्याओं का पितृगृह में आदर भी बहुत होता होगा।

मनुस्मृति में प्रयुक्त 'सुवासिनी' शब्द से उक्त कल्पना सत्य नहीं ठहर सकती। कुल्लूकभट्ट ने 'सुवासिनी' को नवोढा, नवविवाहित बताया है। मॉनियर विलियम्स के संस्कृत इंग्लिश शब्दकोष में पितृगृहस्थित विवाहित तथा अविवाहित युवती अर्थ किया गया है।

अविवाहित युवती को 'सुवासिनी' कहना संगत मालूम नहीं होता। मनुस्मृति के उक्त श्लोक में कुमारियों से पृथक् सुवासिनी का पाठ उसके विवाहितत्व का सूचक है। विवाहित होने पर कन्या के प्रति मातृगृह में पाहुने या अतिथि की भाँति व्यवहार होने लगता है। उसके प्रति पूज्यता की दृष्टि रहती है। बुन्देली भाषा में 'सुवासिनी' का तद्भव शब्द मिलता है—'सवासन'। उसके आधार पर ही उक्त निर्णय लिये जाने की स्थिति आती है। बुन्देलखण्ड में विवाहित कन्या जब किसी विवाहोत्सव के अवसर पर पितृगृह आती है, तब उसे 'सवासन' तथा उसके पति को 'सवासा' कहे जाने की प्रथा आज भी प्रचलित है। ये शब्द पूज्यता की ओर इङ्गित करते हैं। विवाहावसरिक पूजा, नेग आदि सभी का आरम्भ कुल-पूज्य व्यक्ति के द्वारा किया जाता है। अतः पुरोहित उक्त कार्य संपादन का अधिकारी नहीं माना जाता है। बुंदेलखण्ड की प्रथा के अनुसार अवस्था में छोटी कन्या सबकी पूज्य मानी जाती है। किन्तु वैवाहिक अवसरों पर विवाहित वह कन्या पूज्य मानी जाती है, जिसका विवाह हाल में ही हुआ हो। पुत्री की अपेक्षा पौत्री तथा बहिन की अपेक्षा पुत्री की पूज्यता मानी जाती हैं। विवाहावसरों पर वर या वधू की बुआ को प्राधान्यतः सवासन कहा जाता है। उसके अभाव में विवाहिता बहन भी सवासन कही जाती है। दोनों का ही पितृगृह है। अतः दोनों सुवासिनी > सवासन कहला सकती हैं। बुन्देली भाषा ही उक्त ग्रन्थि को खोलने में समर्थ है। सिरिसिरिवालकहा ( १५६ ) में 'सुवासिणी' का अर्थ वह स्त्री है, जिसका पति जीवित हो। देशी-भाषा के इस शब्द का विश्लेषण भी संस्कृत तथा बुन्देली शब्द के साहाय्य से ही शक्य है। प्रदेशविशेष की भाषा में स्यात् देशी भाषा के उक्त अर्थ का व्यवहार प्रचलित रहा हो।

संस्कृत के कुछ शब्द विशेषतः जैन परिवार की भाषा में खप गये हैं। इनका प्रयोग प्रादेशिक भाषाओं में नहीं होता। मुख्यतः बुन्देलखण्डी जैनों में रोटी इत्यादि के साथ खाये जाने वाले अचार इत्यादि को 'तेउँन' कहते हैं। संस्कृत का 'तेमन' शब्द ही उसमें रच-पच गया है। संस्कृत की सहायता के बिना हम 'तेउँन' के पूर्वज का पता नहीं लगा सकते और 'तेऊँन' के बिना 'तेमन' का वास्तविक व्यवहार नहीं जान सकते। इसी प्रकार जैनों में बहनोई ( ज्येष्ठ ) के लिए 'भौआ' शब्द प्रचलित हैं। संस्कृत का 'भामः' शब्द ही इसमें रच-पच गया है। देवीभागवत पुराण ( ६, १६, ४९ ) में इसका उल्लेख इस प्रकार आया है—'गुरुं मित्रं तथा भामं पुत्रं च भगिनीं' तथा।

इस प्रकार हमने देखा कि संस्कृत की अधिकांश शब्दावली प्रादेशिक भाषाओं में रची-पची है। अंग्रेजी भाषा के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए जिस प्रकार लैटिन और ग्रीक इत्यादि भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य है, उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के स्वरूप को पहचानने के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य है।

## प्रादेशिक भाषानदियों का प्रवाह संस्कृतसमुद्रोन्मुख

संस्कृत के विद्वान् प्रादेशिक भाषाओं और अंग्रेजी में संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करके अपने प्रयत्न की इतिकर्तव्यता मान बैठे हैं। किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अनुवाद-कार्य से संस्कृत में निहित भावों का प्रचार तो अवश्य होगा, पर संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि न होकर उन उन भाषाओं का साहित्य ही समृद्ध होगा। बँगला और अँग्रेजी उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद ने हिन्दी भाषा को समृद्ध किया न कि बँगला और अंग्रेजी के वाङ्मय को। प्रादेशिक भाषाओं और अँग्रेजी में अनुवाद उपलब्ध न होने पर जिज्ञासु को मूल संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ेगा। फलतः संस्कृत अध्येताओं की संख्या में वृद्धि होगी। संस्कृत भाषा पुनः चिन्तन-मनन का साधन बन सकेगी।

कुछ विदेशियों का संस्कृत के प्रति अद्भुत आकर्षण था। जैसे ही मुसलमान भारत पहुँचे, संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद फारसी और अरबी में

धड़ाधड़ किये जाने लगे। अब्बासी खलीफा अलमन्सूर के राज्यकाल ( ७७३ ई० ) में ज्योतिष शास्त्र का उद्भट विद्वान् एक भारतीय गणित-ज्योतिषी खलीफा के दरबार में पहुँचा। वह अपने साथ ग्रहों के समीकरण का एक चित्रफलक भी ले गया था, जो औसत गति के हिसाब से बनाया गया था। उस चित्रफलक में सूर्य और चन्द्रग्रहणों के संबन्ध में कुछ सिद्धान्त भी दिये गये थे। उक्त ज्योतिषी के अनुसार ये चित्रफलक एक भारतीय राजा ने तैयार किये थे, जिसका नाम अरबी में 'फिगार' लिखा गया है। खलीफा ने इस शुभ अवसर से लाभ उठाया और अपने दरबार के विद्वान् मुहम्मद बिन इब्राहीम अलफजारी द्वारा ज्योतिष के संस्कृत ग्रन्थ का अरबी में उल्था कराया।

किन्तु कुछ ऐसे भी विदेशी संस्कृतानुवादक हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत में ग्रन्थों की रचना कर ऋणमुक्ति प्राप्त की। प्राय: १००० ई० में अबुराहान-अल-बिरूनी ने ( जन्म ९७०, मृत्यु १०३८ ई० ) भारत में अपने जीवन के चालीस वर्ष बिताये और उसने ज्ञान से भरे अपने श्रेष्ठ 'तारीखुल हिन्द' की रचना की। ख्वारज्म के सुलतान ने अल-बिरूनी को अपने राजदूत के साथ गजनी के महमूद के दरबार में भेजा। इसके साथ ही उसे पदाधिकारी बनाकर लाहौर के मसूद के पास भी भेजा। अलबिरूनी ने अवश्य ही संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा क्योंकि उसने सांख्य पर संस्कृत के एक ग्रन्थ का और योगशास्त्र पर भी एक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद ही नहीं किया बल्कि स्वयं अरबी से भी दो ग्रन्थों का संस्कृत में भी अनुवाद किया।[1]

भारतीय जनता ने बहुत पहले ही संस्कृतानुवाद के रहस्य को समझ लिया था। संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि के लिए उन्होंने अन्य भाषाओं से संस्कृत में अनुवाद किये थे। गुणाढ्य ने वड्डकहा (< बृहत्कथा) नामक अपना विशाल कथा-ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा था। पर सोमदेव इत्यादि संस्कृत-भक्तों ने उसका अनुवाद 'कथासरित्सागर', 'बृहत्कथा-

---

१. द्रष्ट० इलियट : हिस्टोरियन्स् आव् इण्डिया, पृ० ८६

मञ्जरी' इत्यादि संस्कृत ग्रन्थों के रूप में कर लिया। फल यह हुआ कि संस्कृत की लोकप्रियता के कारण पैशाची का वह मूल ग्रन्थ ही लुप्त हो गया।

इधर हुए कुछ संस्कृतानुवादों का विवरण इस प्रकार है—देलरामाकथासार: ( राजानक भट्टाह्लादक ), सेकशुभोदया ( हलायुध मिश्र ), आर्यागुम्फ: ( काशिराज चेतसिंहमहाराज के प्रधानकवि हरिप्रसाद जी ) शृङ्गारसप्तशती ( पण्डित परमानन्द भट्ट, संवत् १९२५ ), जगद्बन्धु शर्मा द्वारा अनूदित 'आरब्य-यामिनी', ईसब्नीतिकथा:, कामायनी, बाइबिल, सत्यशोधनम्, भारतीय-( सं )-विधानम्, शेक्सपियरनाटककथावली, भूमिकन्या ( डॉ० रत्नमयी दीक्षित ), कथामञ्जरी ( श्रीमाता ), पथिककाव्यम्, ( मधुकरशास्त्री ), तदात्मानं सृजाम्यहम् ( श्रीमाधव देशपाण्डे ), सम्मानकर्णिकम् ( श्रीमाधव देशपाण्डे ), सौन्दर्यसप्तशती ( डॉ० प्रेमनारायण द्विवेदी ), रामचरितमानस ( के० तिरुवेंकटाचार्य ), भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजय: ( पण्डित कालिकाप्रसाद शुक्ल ), टालस्टायकथासप्तकम् ( डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी ), कमला ( डॉ० ग० बा० पळसुले ), श्रीज्ञानेश्वरस्य हरिपाठ: ( श्री वि० वा० काळे ), पर्यटनशूर: सिन्दबाद: ( प्रा० द० य० गंभीर ), दीपदानम् ( पण्डित विघ्नहरिदेव ), अथातो ज्ञानदेवोऽभूत् ( डॉ० ग० बा० पळसुले ) इत्यादि।

यह शुभ दिशा है, पर संस्कृतानुवाद केवल कविता, कथा या इतिहास के ही हुए हैं, विज्ञान इत्यादि विषयों के नहीं। इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में मौलिक संस्कृत-ग्रन्थों की रचना भी काव्य महाकाव्य, कथा या डाक्टरेट उपाधि के लिए लिखे गये संग्रहात्मक शोधप्रबन्धों से आगे नहीं बढ़ पायी है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर केवल 'तद्धितान्ता: केचन शब्दा:' ग्रन्थ संस्कृत में प्रकाशित हुआ है।

पर आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिन्दी के किसी विद्वान् ने संस्कृत में ग्रन्थ लिखकर उऋण होने का कष्ट नहीं किया। पालि तथा प्राकृत भाषाओं के व्याकरण संस्कृत में लिखे गये, देशीनाममाला की स्वोपज्ञवृत्ति संस्कृत में लिखी गयी, आन्ध्रचिन्तामणि: (तेलुगुव्याकरण), केरलपाणिनीयम् ( मलयालम व्याकरण ) तथा कश्मीरशब्दामृतम् (कश्मीरी व्याकरण) संस्कृत में लिखे गये पर आश्चर्य है कि उसी शृङ्खला में

हिन्दी का व्याकरण संस्कृत जैसी वैज्ञानिक भाषा में नहीं लिखा गया। हिन्दीज्ञों ने कभी इस ओर सोचा तक नहीं। यही कारण है कि चिरकाल से स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भी सम्पूर्ण भारत में हिन्दी के प्रति वह भावना नहीं आ पायी जो पालि और प्राकृत के प्रति उस काल की भारतीय जनता में थी।

संस्कृत नाटकों के हिन्दी इत्यादि प्रादेशिक भाषाओं के अनुवादों से हिन्दी इत्यादि प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया गया। पर संस्कृतनाटकों की उपेक्षा हो गयी। अधिकांश जनता प्रादेशिक भाषाओं में अनूदित नाटकों का अभिनय देखने लगी, मूल संस्कृत नाटक के अभिनय के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं रहा। इस प्रकार इस वैज्ञानिक संस्कृत भाषा की उत्तरोत्तर उपेक्षा होती चली आयी। इसकी संपूर्ण विधाओं का अनुवाद करके इसे धार्मिक भाषा घोषित कर दिया, क्योंकि माङ्गलिक संस्कारों के अवसर पर ही संस्कृत का उच्चारण सुना जाता है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार अनुवाद के द्वारा प्रादेशिक भाषाओं ने संस्कृत भाषा के व्यावहारिक क्षेत्र का अपहरण कर लिया। फलत: प्राचीन काल से चली आयी संस्कृत की अविच्छिन्न ज्ञान-धारा विकसित ज्ञानधारा के प्रवाह के साथ जुड़ने से वंचित कर दी गयी। संस्कृत वाङ्मय के अनुवादों पर तो फिल्में बनने लगीं, पर मूल संस्कृत में आज तक एक भी फिल्म नहीं बनी। बंगला, पंजाबी, मराठी, उड़िया, गुजराती इत्यादि प्रादेशिक भाषाओं में तो फिल्में बनती हैं, किन्तु संस्कृत भाषा में इस हेतु प्रयत्न तक नहीं होता ! स्पष्ट है कि प्रादेशिक भाषाओं की प्रवृत्ति संस्कृत को जितना बन सके उतना दोह लेने की है, प्रतिदान में उसे कुछ भी देने की नहीं। संस्कृतज्ञों ने इस दिशा में कभी विचार तक नहीं किया। वे समझते रहे हैं कि इससे उनका और संस्कृत का कल्याण हो रहा है।

सत्य बात तो यह है कि भारत की सम्पूर्ण प्रादेशिक भाषाएँ नदियों के समान हैं ओर संस्कृत भाषा समुद्र के समान। सम्पूर्ण प्रादेशिक भाषाएँ नदियों के समान विशाल संस्कृत की ओर उन्मुख होकर

ही प्रवृत्त हैं। वे उस धीर गम्भीर प्रशान्त संस्कृत सागर की ओर दौड़ रही हैं। कुछ तो उसके बहुत पास पहुँच चुकी हैं और कुछ अभी बहुत दूर हैं। लक्ष्य सबका एक है। संस्कृत से पारिभाषिक शब्द लेकर संस्कृतमय हो जाना चाहती हैं। जब सबकी प्रवृत्ति एक ही ओर है, सबका लक्ष्य एक ही है तो क्यों नहीं संस्कृत की अनिवार्यता कर दी जाती है ? संस्कृत की लोकप्रियता किसी से छिपी नहीं है। जो कार्य हमें दस या बीस वर्षों के अनन्तर करना पड़े, उसे हम क्यों न सरल रीति से योजनाबद्ध रूप में पहले ही कर डालें। नदियों को भी पता नहीं रहता कि उन्हें समुद्र में मिलना है अन्यथा वे टेढ़ी-मेढ़ी होकर चक्करदार घुमाओं से दूरी बढ़ाकर समुद्र में न मिलतीं अपितु 'शार्ट कट' से बहतीं। उन्हें प्रकृतितः समुद्र में तो मिलना ही है चाहे वे चक्करदार घुमाओं से बहें या सीधी रेखा में।

## भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी

आज भारतीय जन संस्कृत-रक्षा की अनुभूति कर रहे हैं। वस्तुतः अप्रत्यक्ष रूप से वे उसकी आड़ में देश-रक्षा की अनुभूति कर रहे हैं। देश की एकता के लिए खतरा पैदा हो गया है। विश्व की एकता के खतरे को दूर करने के लिए इण्डो-जर्मन विद्वानों ने संस्कृत का आश्रय लेने की ठानी थी। संस्कृत के आविष्कार पर यूरोप के विद्वान् आश्चर्य-चकित थे। ईसाई धर्म के बड़े-बड़े धुरंधर सिर हिलाने लगे। ग्रीक और लैटिन के विद्वान् यह विश्वास न कर सके कि ग्रीक और लैटिन का संस्कृत भाषा से कोई सम्बन्ध हो सकता है। भाषाशास्त्र के पुराने तथ्योंसे उन्होंने संसार के इतिहास का रहस्य खोलने के लिए जो अंड-बंड सिद्धान्त बनाये थे, वे उलट-पुलट हो गये। सर विलियम जोन्स ( मृत्यु-काल १७९४ ) ने संस्कृत पर दृष्टि डालते ही ये उद्‌गार निकाले—"यह भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, यह अत्यन्त विस्मयकर बनावट की भाषा है। यह ग्रीक से अधिक परिपक्व और सम्पन्न है, लैटिन से भी अधिक परिपूर्ण है और इन दोनों भाषाओं से अधिक सुसंस्कृत है। इस पर खूबी यह है कि उक्त दोनों भाषाओं से इसका बिरादरी का अति

निकट सम्बन्ध है।" संस्कृत ने प्राय: सम्पूर्ण विश्व को एकता की ओर खींचा।

संस्कृत की इतनी अधिक वैज्ञानिकता और यूरोपियन भाषाओं से अत्यधिक समानता देखकर स्काच दार्शनिक ड्यूगैल्ड स्टेवर्ट ने संस्कृत भाषा का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया और लिखा कि संस्कृत नाम की कोई भाषा न आज है और न कभी थी। सचमुच में यह भाषा जालसाजी और छलकपट करने में सिद्धहस्त तथा झूठों के राजा ब्राह्मणों ने ग्रीक और लैटिन की नकल पर गढ़ी है और संस्कृत का सारा साहित्य बहुत बड़ा कपट और दुनिया को धोखा देने वाला है। इस एक तथ्य से इस सत्य का उद्घाटन होता है कि संस्कृत भाषा के आविष्कार से प्रत्येक शिक्षित यूरोपियन के उन पक्षपातपूर्ण विचारों को कितना बड़ा धक्का पहुँचा होगा जो पहले से ही उसके मन में दृढ़ रूप से जमे बैठे थे। वे संस्कृत के अस्तित्व को स्वीकार करके यह क्रान्तिकारी सिद्धान्त मानने को कैसे तैयार होते कि असभ्य जाति की फूहड़ बोली से ग्रीक और लैटिन का भाई-चारे का रिश्ता है। उस समय मुगल बादशाहों की सब प्रजा असभ्य समझी जाती थी। असत्य और पक्षपात कितने दिन टिकता! अन्ततोगत्वा सारे यूरोप ने नई दिशा सुझाने वाली संस्कृत भाषा के महत्त्व को शिरोधार्य किया और वे उसकी छत्रच्छाया में विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न देखने लगे। संस्कृत की आड़ में विश्वरक्षा का उपाय सोचा गया।

यूरोप से पूर्ववर्ती ईरान की पुरातन भाषा अवस्ता के सारे मन्त्र थोड़े से उलट-फेर से संस्कृतभाषामय हो जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता (३, १, ११८) का कन्या और धूलि-वाचक गर्दा शब्द पर्सियन से होकर हिन्दी में आया, संस्कृत की पाली-प्राकृत-अपभ्रंश-परम्परा से नहीं। संस्कृत भाषा की सहायता के बिना ईरानी भाषाओं का इतिहास विशृङ्खल है।

ईरान से भी पूर्व पस्तो आदि सीमावर्ती भाषाएँ अथवा ईरान और वर्तमान भारत की मध्यवर्ती भाषाएँ संस्कृत की बहुत बड़ी धरोहर की रक्षा कर रही हैं। उनके इतिहास का पता बिना संस्कृत भाषा की सहा-

यता के नहीं लगाया जा सकता। संस्कृत भाषा की व्यावहारिक शब्दावली बृहत्तर भारत की बोलियों में रची-पची है। ये बोली वाले इस बात को बिना परखे डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाते हुए एकता के सूत्र को तोड़ कर भाषावार राज्यों के निर्माण में दत्तचित हैं। जरूरत है उन-उन भाषाओं की व्युत्पत्त्यात्मक कोश-रचना की। फलत: संस्कृत की महत्ता स्वीकार करके उसके सहारे देश की रक्षा की जा सके।

भारतवर्ष से जाकर यूरोप आदि में फैली यायावर जिप्सी ( रोमानी ) भाषा का इतिहास संस्कृत भाषा की सहायता के बिना नहीं लगाया जा सकता। जिप्सी का √'दुहना' और दूध का वाचक 'दोश' शब्द संस्कृत के ऊधस् के परिणाम कात्यायनोल्लिखित दूस का भाई है। एक यूगोस्लावियन् संस्कृत छात्र ने मुझे बताया कि यूगोस्लाविया के जिप्सियों ने अपनी भाषा में श्री जवाहरलाल नेहरू से वार्तालाप किया। एक ही संस्कृत भाषा भारतवर्ष में हिन्दी के रूप में और यूरोप आदि में जिप्सी भाषा के रूप में खप गई। जिप्सी का हिन्दी से अत्यन्त सादृश्य है और एक हिन्दुस्तानी तथा जिप्सी अपनी भाषाओं द्वारा परस्पर भाव-विनिमय कर लेते हैं।

संस्कृत भाषा की भारतीय ( मध्यकाल और आधुनिक काल ) भाषाओं में खपने की एक लम्बी इतिहासात्मक श्रृङ्खला है। मैक्समूलर के अनुसार "अपनी बहुसंख्यक सन्तानों को जन्म देने पर भी लैटिन की भाँति वह मरी नहीं, आज भी शिक्षित ब्राह्मण हिन्दी बंगला आदि से संस्कृत में अधिक धड़ाके से लिखता है। संस्कृत का आज भी वही मान है जो एलेक्जेण्ड्रिया में ग्रीक का रहा और जो प्रतिष्ठा लैटिन की मध्ययुग में रही।"

संस्कृत भाषा ने सर्वप्रथम पालि को जन्म दिया। इस भाषा के अनेक ग्रन्थों के विद्यमान रहने के अतिरिक्त अशोक के शिलालेख उत्तम निदर्शन हैं। उक्त समय से भारत के आर्य लोग कई बोलियाँ बोलने लगे थे जिनका वैदिक संस्कृत से वही सम्बन्ध था जो लैटिन से इटालियन भाषा का है। भारत के नाना प्रदेशों में भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोली

जाती थीं और हम इनमें से कुछ भाषाओं को जानते हैं क्योंकि राजा अशोक ने कुछ शिलालेख कई प्रदेशों में खुदवाये। हम इन स्थानीय बोलियों का विकास उस पाली में पाते हैं जो सिंहल द्वीप के बौद्ध धर्म की भाषा है और जो कभी बौद्ध धर्म की जन्मभूमि वर्तमान बिहार या प्राचीन मगध प्रान्त की बोली थी।

ये स्थानीय बोलियाँ प्राकृत के रूप में हमें फिर संस्कृत नाटकों और जैनों की धर्मपुस्तकों में मिलती हैं। इन बोलियों में कुछ काव्य भी रचे गये हैं। हम अब यह भी देख रहे हैं कि भारत के नाना विजेताओं की भाषाओं के शब्द इनमें घुल-मिल जाने के कारण इनमें अरबी, फारसी, मंगोलियन, तुर्की आदि के शब्द और मुहावरे घुस गये हैं। साथ-साथ इनका व्याकरण बिगड़ने से हिन्दी, हिन्दुस्तानी, मराठी, बंगाली आदि भाषाएँ उत्पन्न हो गई हैं। इस सारी अवधि में संस्कृत ने अपना अस्तित्व नहीं खोया। वह साहित्यिक भाषा बनी रही तथा सन्तानों का भी पोषण करती रही। ई० चौथी शताब्दी तक चान्द्र आदि नये-नये संस्कृत व्याकरणों की रचना होती रही। यह संस्कृत की उपादेयता को सूचित करती है। तेरहवीं शताब्दी के संक्षिप्तसारव्याकरण के अन्त में प्राकृत व्याकरण को भी ग्रथित किया गया।

संस्कृत भाषा की सहायता के बिना प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का अर्थ लग नहीं सकता। उसके लिए हमें संस्कृत की शरण लेनी पड़ती है तो फिर क्यों न संस्कृत भाषा के आश्रय में देश की रक्षा की जाए ? देश को टुकड़े-टुकड़े होने से बचा लिया जाए ? पंजाबी भाषा में एक शब्द है—'जण्ण'। 'डेंह दी धुप्प, रत्त दी भुक्ख ते जण्ण दा गहणा' अर्थात् दिन की धूप और रात की भूख ये दो चीजें बारात का गहना है। जण्ण कहते हैं—बारात या बराती को। सिंधी भाषा में इसके लिए शब्द है— जञ॒। सिंधी और पंजाबी भाषाभाषियों को संस्कृत भाषा के बिना इनका अर्थ समझना टेढ़ी खीर है। संस्कृत में इसके लिए शब्द है—'जन्य'[1]।

---

१. द्र० "तद्धितान्ताः केचन शब्दाः"—डा० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी ( मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी )

इसका अर्थ है—जन=दूल्हा ( या जनी=दुलहिन ) को श्वसुर के घर पहुँचाने वाला। मालती-माधव में जन्ययात्रा=बारात की चर्चा है। यही जन्ययात्रा शब्द हिन्दी में जनेत् के रूप में देखा जा सकता है। मराठी भाषा में जनावस या जनवास शब्द आता है। मराठी व्युत्पत्ति कोशकार ने संस्कृत भाषा के 'जन्य' शब्द को देखे विना जनवास का अर्थ कर डाला—जन=जनक के घर में दिया जाने वाला आवास। आपने देखा ! संस्कृत की सहायता के बिना प्रादेशिक भाषा की कैसी दुर्दशा होती है।

नेपाली भाषा का भान्सा=रसोईघर शब्द संस्कृत के 'महानस' शब्द की सन्तान है। हिन्दी में रसोई शब्द प्रचलित है। यह संस्कृत के रसवती शब्द की सन्तान है। संस्कृत भाषा सारे भारतवर्ष में एक रूप से प्रचलित नहीं थी किन्तु अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग शब्द-समूह व्यवहृत होते थे। आज यह जो एकता से अनेकता होकर भाषाओं में भिन्नता दिखाई पड़ती है, वह संस्कृत की सहायता से देश को भिन्न नहीं होने देगी।

हिन्दी तथा भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के तत्सम शब्द ऐसे गुप्त कमरे में बन्द हैं, जिसकी कुंजी संस्कृत ने स्वायत्त कर रखी है। हिन्दी भाषा ने अपना शब्द भण्डार संस्कृत के तत्सम शब्दों से ही भरा है। संस्कृत के अध्ययन के बिना हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के तत्सम शब्दों को अपने शुद्ध रूप में लिखा ही नहीं जा सकता।

शुद्ध स्वरूप 'अनुसूया' है या 'अनसूया' ? कोई भी हिन्दी या प्रादेशिक भाषा का वेत्ता इसकी शुद्ध वर्तनी को लिखने और बोलने में तब तक असमर्थ रहेगा, जब तक वह संस्कृत नहीं पढ़ता, संस्कृत से कुंजी लेकर बन्द कपाट नहीं खोलता। अपने को अतिचतुर समझने वाले व्यक्ति तो 'अनसूया' शब्द के 'अन' को इसलिए असंगत बताते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में 'अनु' उपसर्ग है, 'अन' नहीं। हिन्दी या प्रादेशिक भाषाओं को शुद्ध लिखने के लिए संस्कृत का जानना अनिवार्य है। इस प्रकार के कुछ शब्द यहाँ दिखाये जा रहे हैं; जिनकी वर्तनी का निर्णय करने में

असंस्कृतज्ञ व्यक्ति अपने को असमर्थ पाते हैं—१. दृष्टव्य, २. दृष्टा, ३. द्रष्टान्त, ४. पृष्टव्य, ५. पृष्टा, ६. गृहीतव्य, ७. ग्रहीत इत्यादि। इनकी शुद्ध वर्तनी होगी—१. द्रष्टव्य, २. द्रष्टा, ३. दृष्टान्त, ४. प्रष्टव्य, ५. प्रष्टा, ६. ग्रहीतव्य, ७. ग्रहीता तथा गृहीत इत्यादि। संस्कृत न जानने वाला व्यक्ति ऊढ ( ऊढा, नवोढा ), अनूदित तथा आहूत जैसे लाखों शब्दों के अर्थ को समझ ही नहीं सकता। उर्दू भाषा में अधिकांश तद्भव शब्द हैं। चौखटा भारतीय है। पर उसे अधिकाधिक अरबी-फारसी शब्दों से भरने का प्रयत्न किया जाता है। उसका वाक्य-विन्यास अरबी-फारसी का नहीं है। उसके क्रियापद जाना, आना, खाना, रोना, हँसना इत्यादि सभी के सभी प्रादेशिक भाषाओं के क्रियापदों से भिन्न नहीं। अतः उर्दू प्रेमियों को भी संस्कृत का पढ़ना अत्यावश्यक है।

संस्कृत भाषा के प्रयोग से धन और समय दोनों की बचत होती है। मैंने दिनाङ्क ३-२-७७ को छतरपुर ( म० प्र० ) से एक तार वाराणसी इस आशय का भेजना चाहा कि विवाह हो रहा है, अच्छा हुआ तुम लोग नहीं आये—वागीशशास्त्री। पोष्ट आफिस ने इस समाचार को भेजने के लिए ४.२५ पैसे की माँग की। 'वागीशशास्त्री' को वह दो शब्दों में गिन रहा था। मैंने उससे कहा कि यदि आसामी तमिल तेलुगु या संस्कृत के ऐसे लम्बे नाम हों जिन्हें क्लर्क यह न समझ सके कि बीच में रुका गया या नहीं, तो उसे उस शब्द को एक ही मानना पड़ेगा। मेरे हजार तर्क देने पर भी पोष्ट आफिस नहीं माना। बोला—वागीश को रुककर बोलते हैं और शास्त्री को भी रुककर बोलते हैं। दो बार रुकना पड़ा तो दो शब्द हो गये। मेरे मन में तत्काल एक विचार कौंधा कि क्यों न संस्कृत में तार लिखा जाए! संस्कृत में समाचार केवल दो शब्दों में बन गया—'विवाहसम्पन्नता तवानुपस्थितिसाधुता'। क्लर्क बोला—'यह तो संस्कृत है। तार हिन्दी में लिये जाते हैं।' मैंने कहा—सन्त तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' आप किस भाषा में लिखी मानते हैं? हिन्दी या संस्कृत ? बाबू बोला—'हिन्दी'। मैंने कहा—'तब मेरी इस शब्दावली को आप संस्कृत कैसे बताते हैं और टेलिग्राम हिन्दी में लिखाने

का आग्रह करते हैं ? 'जयति वर्णाश्रमाचारपर नारि-नर' तथा 'सकल लोकान्त-कल्पान्तशूलाग्रकृत दिग्गजाव्यक्त गुणनृत्यकारी' और 'सच्चिदानन्द वंदेऽवधूतम्' 'प्रणतजनखेदविच्छेद-विद्या-निपुण नौमि श्रीराम सौमित्रि साकम्' को आप हिन्दी मानेंगे या संस्कृत ? बेचारे क्लर्क ने पोष्टमास्टर की शरण ली। अन्ततः संस्कृत का तार स्वीकृत किया गया। आधे धन की बचत हुई।

प्रादेशिक भाषाओं की भिन्नता के कारण देश अनेक टुकड़ों में छिन्न-भिन्न न हो जाए इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर महामुनि आचार्य कुमुदेन्दु ने 'भूवलय' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ख्रीस्तीय सप्तम शतक के उत्तरार्ध में जीवित थे। तात्कालिक गंगवंश के सुप्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष प्रथम के यह ब्राह्मण राजगुरु तथा जैनाचार्य वीरसेन के प्रधान शिष्य थे। इनके द्वारा लिखित 'भूवलय' नामक ग्रन्थ विश्व का आठवाँ आश्चर्य है। यह ७१८ भाषाओं का ग्रन्थ है। ये संपूर्ण भाषाएँ यहाँ व्यक्त रूप से संनिविष्ट हैं। नियमपूर्वक अध्ययन से जिस अर्थवाला जो पद्य संस्कृत भाषा का है उसी अर्थवाला वह पद्य इसमें अन्य भाषाओं का मिलता है। सन् १९५४ तक संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु, पैशाची, मागधी तथा अर्धमागधी भाषाओं का उद्धार हो गया था।

इस ग्रन्थ के सम्पादक हैं मैसूर विश्वविद्यालय के इतिहास-प्राध्यापक ३५ भाषाओं के वेत्ता डा० श्री कण्ठैया शास्त्री। उनके मतानुसार उनके द्वारा ज्ञात सभी भाषाएँ इस ग्रन्थ में विद्यमान हैं। अंशतः ज्ञात भाषाओं के शब्द इसमें मिलते हैं। उनके अनुसार संस्कृत, पालि, प्राकृत, द्राविड़, आन्ध्र, महाराष्ट्र, मलयालम, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, अंग, कलिंग, काश्मीरी, कम्बोजी, शौरसेनी, तिब्बती, बैन्जी, बंग, ( ब्राह्मी ), पद्मा, विजयार्द्ध, वैदर्भी, वैसाली, ( खरोष्ठी ), निरोष्टी, अपभ्रंश, पैशाची, रक्ताक्षी, अरिष्टी, मागधी, अर्धमागधी, सारस्वत, पारसी, लाट, गौड़, उत्कल, यवनानी, तुर्की, सैन्धव, हिन्दी, मूलदेवी, वैदिकी आदि भाषाएँ हैं। यह ग्रन्थ १६ दिसम्बर, १९५१ ई० में तात्कालिक राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद को दिखाया गया था। संप्रति यह ग्रन्थ बंगलूर में विद्यमान है।

भूवलय ग्रन्थ असंख्य लिपियों का भी आकर है। आचार्य श्री कुमुदेन्दु की यह भी प्रतिज्ञा थी कि इस ग्रन्थ में चारों वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, महाभारत ( जयाख्यान ), श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गणित, भूगोल, खगोल, रसवाद, शरीरविज्ञान, संगीत, वादित्र, योग ( मनोविज्ञान ), व्याकरण ( भाषाविज्ञान ), आयुर्विद्या, वनौषधिविज्ञान, अणुवाद, अध्यात्मादि के समस्त प्रामाणिक ग्रन्थ समाविष्ट किये हैं। उन्होंने प्रयत्न किया कि बृहद् भारतीय समस्त ग्रन्थ एक इसी ग्रन्थ में यथावत् उपलब्ध हों । फलतः असंख्य ग्रन्थों के संग्रह का श्रम जनता को न करना पड़े। यह संपूर्ण ग्रन्थ कर्णाटक भाषा के सांगत्य नामक छन्द में निबद्ध है। हम लोगों की चर्चा का विषय यह संपूर्ण ग्रन्थ अंकों में ही लिखा गया है। इसमें किसी भी लिपि का एक भी वर्ण प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रेस कला-वेत्ताओं का कथन है कि यदि यह बड़े पृष्ठों में छपे तो १६००० पृष्ठों से कम नहीं होगा। अभी तक छै अंशों में केवल एक अंश पढ़ा गया है। इससे पचहत्तर हजार श्लोकों का निर्माण हुआ। यदि यह संख्या सर्वत्र प्रामाणिक मानी जाए, तो चार लाख बीस हजार श्लोक बनेंगे। इस प्रकार 'लक्षं तु चतुरो वेदास्तथा भारतमेव च' की उक्ति के अनुसार वेद और भारत के दो लाख, श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के 'चर्तुर्विंशतिसाहस्री' पद्य के अनुरोध से दो लाख चौबीस हजार पद्य निर्मित होते हैं। अवशिष्ट प्रामाणिक विषय-ग्रन्थों के संनिवेश के लिए एक लाख छियानबे हजार पद्य पर्याप्त होंगे।

'भूवलय' नामक यह ग्रन्थ देश को एकता प्रदान करने में कितनी सहायता करेगा, यह भविष्य के गर्त में है। इस समय क्रिया रूप देने के लिए देश के कर्णधारों का कर्तव्य है कि वे उन-उन प्रदेशों में प्रचलित उन-उन भाषाओं के शब्दों की सहायता से सर्वत्र एकता स्थापित करके देश की एकता की सुरक्षा करें। यह बृहत्तर भारत किस भारतीय के मस्तक को उन्नत न करेगा ? यह भारती=संस्कृत विपुल है, भारत को बृहत्तर बनाने में समर्थ है।

'भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी'

—वायुपुराण

## परिशिष्ट

डॉ० फिलिप वोउइन, मनश्चिकित्सक, द्वारा भेजे गये दर्जनों संस्कृत पत्रों में से निदर्शनार्थ तीन पत्र ज्यों-के-त्यों प्रस्तुत किये जा रहे हैं। भारतीय जनता को इस दिशा में एक ऐसे फ्रांसीसी से प्रेरणा लेनी चाहिए, जिसका विषय संस्कृत नहीं है।

### पत्रसंख्या १

वाग्देव्यै तुन्दिलदेवाय च नमः।

शशिशिशवे नमः।

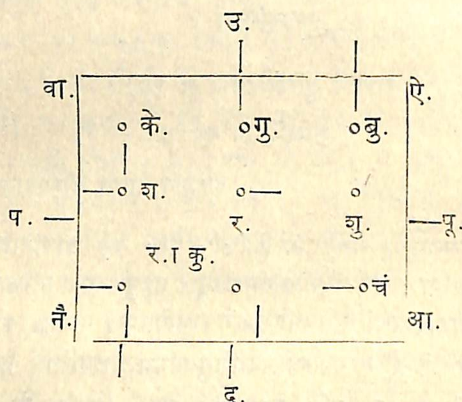
इषशुदि षष्ठ्यां सौम्यवासरे वै० २०३३

अहो भवज्जन्माङ्कं ( भवतोऽपि किञ्चिच्चित्रेण सह प्रतिनिधिभूतम् ) शोभनम्! अहो विद्यायाः सरस्वत्याश्चोत्पादनम्! प्रहर्षुल एव सुस्थितः। अतिसुभगं लक्ष्मीस्थानम्। ताराग्रहाणां यविष्ठत्रयसंयोगेन भूषितम्। योगकारकोऽत्र गृध्रारूढः शम्भुप्रियः स्वस्थाने केन्द्रे सुस्थः स्वोच्चराशिमुदयमवलोकयन्निति विज्ञेयं सर्पादि। वक्री त्वभवदेतदपेक्षया च यदि स्वस्थवक्रग्रहस्य बलसौष्ठवोपचयो भारतीय-ज्योतिषाऽऽगमानुसारेण भवतीति ज्ञात्वा प्रीणीय। कुण्डलीविषये बहुतरमेव वक्तव्यं हि, एतत्पारायणे च क्रियां निधित्सुरस्मि। प्रथमं सूर्यसिद्धान्तविधीनां कृष्ण-पुरीयपट्टिकानां च साहाय्येन चतुष्टयकरणेनासित एव मया सत्याकृतः, यो यूरपदेशीयाधुनिकसूचनातः ( २४-७-१९३४ ) अयनांशान् समीक्ष्य… घटस्थितोऽभविष्यत्! ( १०।४… ) लघुसाधनेन तु ९।२६… इति दिष्ट्या लब्धम्, अतः समीचीनत्वं जन्मपत्रसूचनापेक्षयास्ति। अधुना किं जन्मनगरं कश्च सूर्योदयाज्जन्म-दण्डपलात्मककालः ( मध्याह्नं परि प्रायः )? कालन्यूनतया ( न हि साध्व्युपदा घटियन्त्रम्! ) पत्रं मे खण्डशो लिखितव्यम्। प्रश्नांश्च पङ्क्तिश आदधे। तेषां क्रमाकुलत्वं भवता क्षमितव्यं कृपया।

क—सूक्ष्मर्क्षानयने विषयविस्ताराणां भानां प्रयोजनम् (=अध्यर्ध-अर्ध-एक-भोगानां ( भास्कराचार्यैः परार्थमुदितम् । अपीदं मतमाधुनिकानां भारतीय-दैवज्ञानां ( भवतः पटुसख्योर्यथा ) सदृशमत्र भवति ? ।

ख—पुच्छं किल, किं पश्यति शिखी ? देवालयद्वये ( यथा काञ्चिपुरीयैकाम्रेश्व-रालये ) अस्य सशीर्षप्रतिमा मया दृष्टा ( 'नवग्रहपीडाहरस्तोत्रे च चित्रमेतद् अवनतदृक्समानीतहस्तं समाधानाकारं दर्शयति ) ।

ग—कुतो वेद्यां नवग्रहा एवं स्थिता दिगनुसारेणाभिमुखाश्च ?




ज्योतिषे किं योजनम् ? अपि दिग्बलेन दिक्स्वामित्वेन च सह संबन्धोऽस्ति ?

घ—अपरत्र रविभौमावूर्ध्वदृशौ, ज्ञभार्गवौ तिर्यक् ( 'विलासिनीव' ) । चन्द्रेन्द्रगुरू संमुखेऽधश्चासितासुरावित्युक्तं कुतोनिमित्तम् ?

[ नातिश्रान्तो भवान् मदीयप्रश्नैरित्याशंसा मम । सर्वं खेटदृग्दिग्विषयकं गुर्वर्थो लक्ष्यते । पाश्चात्त्यज्योतिर्विदामज्ञातमेतज्ज्योतिषोद्घाटकः परं स्यात् ]

ङ—अपि तत्काले (=जन्मकाले) मैत्र्यादिनैसर्गिकग्रहसंबन्धविपरीतता संभवति, अथवा तत्क्रमपरिणाम एवोत्पाद्यते ?

च—अपि भवतः 'सार्धसप्ति'र्नाम दशा विदिता ( जन्मचन्द्राद् द्वादशप्रथम-द्वितीयस्थानेषु शनिगोचरानुरूपा ) ? अस्याः फलानामनुभवः १९६७-१९७४

वर्षाभ्यन्तरे मयैवाकारि, अवगच्छामि च यदस्या भारतीया अतीव भायिताः स्युः।
( उत्तरोत्तरेऽनुक्रमितव्यम् )

अमरकोषं प्रीत्या समधिगमिष्यामि, भवल्लिखितवागीशबीजवृक्षं च यथा-प्रकाशनम्—भवद्धनागारनामाङ्कं तु ( Your Bank Account ) ब्रवीतु मे एव—किं पुनः कुतः टिप्पण्यतिभरेणाऽऽतप्यन्ते 'कुक्षिम्भरिमधूनि'। किञ्च तादृक्कोषविरचनायै स्वल्पकालं भजे हि (एतस्मिन् कर्मणि ममासमर्थत्वमनुदित्वा)। यच्छब्दविधानकर्म भवता विहितम्, तदेव श्लाघनीयतमं पुण्यार्थकं च मया दृश्यते, ज्योतिषप्रश्नैर्भवन्तं निर्बन्धेन पृष्ट्वा लज्जावानिव भवामि।

अथाद्यतनावसानरूपेण—कथमुच्चरणेनाधस्तनोदाहरणे

'०तरणेऽसमर्थो ना'

'०तरणे समर्थो ना' ( अवग्रहं विना )

कर्णेन विशिष्येते ? एते वाक्ये विपरीतार्थे भवतः। अप्यस्त्युभयत्र स्वरसदृशत्वं न ?

समानवयस्ककल्पौ स्वः, भवान् ज्येष्ठवन्मम कल्प्यः स्यात्। त्वंकारप्रयोजनं भविष्यपत्रेषु नौ काङ्क्षामि, यदि मत्तः गुरुं प्रत्यसाम्प्रतं नास्ति। भारतीयलोक-व्यवहारे किंविशिष्टात्र रूढिः ?

दशहरावसरे ( यदि मे गणनं युक्तम् ) आह्लादिनी देवी भवन्तं पत्नीं च बालकांश्च भद्रभावे पालयात्विति ममाऽऽकाङ्क्षा। इति शम्

जातस्य मम रोहिणीचरमचरणे
को राशिनाम ? वु–अक्षरादिनाम प्रायः
( 'वु-इन्' तु कुलनामास्ति )

फिलिप ( =प्रियहयः )



पत्रसंख्या २

॥ जुवै नमः ॥

वै० २०३३ सहसः पौर्णमास्याम्, बुधतातवासरे

प्रियतम ज्यायन् !

ह्रस्वानामपि भवद्धस्तलिखितपङ्क्तीनां कतीनाञ्चित्पठने सदैव प्रहर्षं करोमि। चित्राणां द्वारेणाधुना स्थलं मे भवद्भिः किञ्चिज्ज्ञातमिति मतं प्रसादकं मे। हिमोऽ-

त्रागच्छति दीर्घाध्ययनानुकूलजागरैः सह, तन्निमित्तं हृदयप्रियप्रत्यावर्तनः कालः सदा ! निरुद्विग्न एव नवग्रहविषये व्याख्यानानि प्रतीक्षमाणोऽस्मीत्युक्त्वानृतं वदेयम्, अथाधिकप्रश्नैस्तावदुत्कृष्टव्यवहारवत्पुरुषोपरोधाद्भयमतिलुब्धज्ञानोत्कण्ठा च मदन्तरेऽन्योन्यतीव्रविग्रहं कुर्वाते । तथा हि (यद्भवत्सुगममस्ति) तस्मिन् मद्युक्तचित्रे यद्दर्शनीयं पट्टेन ग्रहप्रतिमापरिवेष्टनम्, तस्य किं शास्त्रोक्ताभिधेयम् ? ( मया प्रवासिनैवं परिच्छन्ना नन्दिनो विविधमूर्तयो दृष्टाः, वाराणस्याश्चैव संकटेऽर्कपुत्रस्य तथाविधापि ) ।

प्रश्नोऽन्यः । वाराहीसंहितायां ( अ० ५७ श्लो० ३७ ) एकानंशाख्या देव्युच्यते । का देवतात्राऽऽश्रवणीया ?

आख्यया देव्योच्यते वा ?? ( इति वरं स्यात् )

विरलाः किल फिरङ्गदेशे सन्ति ते, ये तावद्विद्याढ्यभारतीयसुहृदं प्रष्टुमित्थं शक्नुवन्ति, नाज्ञाता मे धन्यता । एतदपेक्षया शिष्यवयःप्रभृति जम्बुद्वीपविषयकोपदेशस्य दारिद्र्यमिह परिवादार्हं सम्यक्, किं पुनर्यवनपुराणाऽऽचारशिष्टतानुसन्धानभूयिष्ठतामालोच्य । अहो चित्रं प्रत्युत सपुष्पितसंक्षिप्ततासंस्कृतभाषाविवरणे प्रौढवयस्कस्याऽऽरब्धुरपि मद्वत्पुरुषस्य चक्षुषा !

नातीव पत्रेषु भवन्तं विलम्बयामीत्याशंसे सदा । साक्षाद्भावस्थाने न सिद्ध्यन्त्येतानि हि । तावत्तु फलान्वितान्यादृशतैव !

ये धर्मकर्मनिरता विजितेन्द्रिया ये ये पथ्यभोजनजुषो द्विजदेवभक्ताः ।
लोके नरा दधति ये कुलशीललीलां तेषामिदं[1] कथितमायुरुदारधीभिः ॥

—श्रीमन्त्रेश्वरग्रन्थेऽधिगतवाक्यं भवन्तं मामिह संस्मारयतीदम् । मया फलदीपिकानुवादः समाप्तप्रायः, अतिशोभनलक्ष्मीयोगं च भवत्कुण्डल्यामद्राक्षं पूर्वमेव । अथाम्बरवासीष्टश्रीमदाचार्यः सोऽस्तीति भवन्तं सुहृदं सोत्साहादरं नमाम्यहम् ।

आगाम्यब्दो मलमासान्वितो गणनाल्लक्ष्यते । अपि ज्यैष्ठ एव द्विगुणीकारिष्यते ? । वै० २०३४ पञ्चाङ्गस्य पञ्ज्या वा मे भूयाद्यदि तत्प्रेषणेन नातिचलितो भवान् स्यात् ।

---

१. मानवपरमायुरत्र विवक्षितम्

पत्रसंख्या ३

॥ श्रीः ॥

॥ ढुण्ढिराजाय नमः ॥

चैत्रशुदि द्वादश्यां गुरुवासरे वै० २०३४

'अमृतभाषा न मृतभाषा'

भवदनूदितां 'मूर्खराट्' इति कथां सानुरागं पठितवान्। ( अधुनोपोद्घातमेवाधीयान आसे । यत्रैतानि भवद्धस्तलिखितसुरुचिरवाक्यानि वर्तन्ते :—

'....संस्कृतभाषां 'मृतभाषा' इति व्याहरति लोकः । अस्यापवादस्य परिमार्जनाय प्रयासबिन्दुरूपेयं प्रवृत्तिर्मदीया । एवमेवान्ये भूयिष्ठाः प्रयासा अपेक्ष्यन्ते'— अतो मयोपरिनिर्दिष्टमादर्शवाक्यमद्य । मयेह सलज्जं भयं प्रकाशयितव्यम्, यद्.... भवत्साक्षिकं पुनस्तावन्मूको मूर्खश्च ( मूर्खराडेव ! ) आत्मीयदेशे लक्ष्ये, यावद्वाराणस्यामेवाभूवम् ! अवरतो भवतोऽतिथिभूतस्य मदपेक्षया क्षमा पुनरपि नात्यन्तं श्रमयिष्यते, इत्याशंसमानोऽस्मि । अन्यच्च, सारतरवस्तु विराजते स एव भवतागच्छता संसेव्यमानस्तेजस्व्यर्थः । उत्कृष्टानां तत्र सीदिष्यतां मनीषिणाम् ( दिष्ट्या, सम्मेलनं परस्परदेशीयमस्ति ! ) केचिच्च भवतः पूर्वमेव ज्ञाता भविष्यन्ति, न संशयः ।

अत्र कष्टं न स्थित्यन्ते भारतवर्षस्य मानसधनानि, भवदीयं च गमनमितरापेक्षयाधोगमनमिव भवतानुभवनीयमित्यत्र नाशक्यतास्ति । भवांस्तु सुदृढो वीरः, यो यूरपदेशीयपिशाचेभ्यो भेतुं न शक्नोति ! वरं हि कश्चन विषादो भवता ततो निष्कर्षणीयः, सोऽयं यो कलियुगविजयदर्शनान्निष्कृष्यते ।

पश्चाङ्गद्वयममरकोषं चाद्यापि समुपलब्धवान्न, ततस्तद्विषये तूष्णीम्भावो मे । एतांस्तु 'दृढपादेन' ( यथोक्तमिह ) प्रतीक्षमाणोऽस्मि, भवतो नितान्तं कृतज्ञतां निवेदयन्नेव ।

अपि पुनर्भवता कतीनाञ्चिच्छब्दानामर्था निर्देशनीयाः कृपया—

—पञ्चजनायत्तम्  —एकपत्रम्

—सौविध्यम्  —श्रीदत्तजयन्ती

—रोटिका ( =अशनीयम् ?? )

इति पृच्छयावसितमद्यतनं सुदीर्घवचनं भवदीयस्य हिताकाङ्क्षिणो मित्रस्य, वावदूकस्य शिष्यस्य च,

फिलिप

टिप्पणी—अद्य मे व्यावहारिकभाषाया अध्यायः शोभनः !

"Hyosiyamus" Henbane, Bilsenkraut इत्योषधेः किं संस्कृतेन नामास्ति ?

# सहायक ग्रन्थसूची


अग्निपुराण—चौखम्बा प्रकाशन, १९६६।

अथर्ववेदसंहिता ( सायणभाष्य सहित ), मुरादाबाद, वि० सं० १९८७।

अमरकोष ( नामलिङ्गानुशासनम् )—व्याख्यासुधासहित, निर्णयसागर, बम्बई, १९१५ ई०।

अल्त् इरानिशेस् बर्तरबूख—क्रिश्चियन बार्तोलोमे, बर्लिन, १९६१ ई०।

'आज' साप्ताहिक विशेषांक, १३ मार्च, १९६६ ई०।

आरब्य-यामिनी

उकरा—सावजूसयूस, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ऋग्वेदसंहिता—( सायणभाष्योपेता ), वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।

ए कांकर्डेन्स् आव् संस्कृत धातुपाठस्—ग० बा० पलसुले, डेक्कन कालेज, पूना, १९५५ ई०।

एपिग्राफिआ इण्डिका—

ऐतरेयब्राह्मणम्—( सायणभाष्यसमन्वितम् ), आनन्दाश्रममुद्रणालय, १९३१ ई०।

कथासरित्सागरः—सोमदेव, मोतीलाल बनारसीदास।

कम्परेटिव डिक्शनरी आव् इण्डो आर्यन् लैंग्वेजेस्—आर. एल्. टर्नर।

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः—वामन, निर्णयसागर प्रेस।

काशिका—वामनजयादित्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

कूर्मपुराण—मनसुख राय मोर संस्करण, कलकत्ता।

कोशकला—रामचन्द्र वर्मा, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, २० धर्मकूप, वाराणसी।

गोपथब्राह्मण—जीवानन्द, कलकत्ता।

गोरक्षसंहिता (भूतिप्रकरण), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७७।

चतुर्भाणी—डॉ० मोतीचन्द संपादित।

चरकसंहिता—निर्णयसागर प्रेस, १९४१ ई०।

चरणव्यूह—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।

चीनाचारतन्त्रम्—(हस्तलेख २३८५८) सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी।

जिप्सी भाषा—वागीश शास्त्री, ( प्रकाशनाधीन ) ।

टालस्टायकथासप्तकम्—डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७ ई० ।

डब्ल्यू. जेड्. के. एम्.—वीनेर त्साइत्श्रिफ्त फुअर दी कुन्दे देस् मार्गेन् लान्देस् ( विएना ओरियण्टल जर्नल ) अष्टम खण्ड, १८९४ ई० ।

तद्धितान्ताः केचन शब्दाः, वागीश शास्त्री, बी० ३।११५, शिवाला, वाराणसी, १९६५ ई० ।

तैत्तिरीय ब्राह्मणम्—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९३४ ई० ।

तैत्तिरीय-संहिता—( भट्टभास्करमिश्र रचित भाष्य सहित ), मैसूर १८९७ ई० ।

त्रिकाण्डशेष—पुरुषोत्तमदेव, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, वि० सं० १९७२ ।

दृक्सिद्धपञ्चाङ्गनिर्माणपद्धतिः—गणपतिदेव शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६१ ई०

देलरामाकथासारः—राजानक भट्टाह्लादक, निर्णयसागर, बम्बई, १९२३ ई० ।

देवीभागवतपुराण—( मनसुख राय मोर ), १९६० ई० ।

देशीनाममाला—हेमचन्द्राचार्य, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३१ ई० ।

नेपाली शब्दकोश—बालचन्द्र शर्मा, रायल नेपाली एकेडेमी, काठमाण्डू, नेपाल २०१९ ई० ।

पंजाबी डिक्शनरी—भाई मायासिंह ।

पद्मपुराण—मनसुख राय मोर संस्करण, कलकत्ता ।

पर्सियन इंग्लिश डिक्शनरी—एफ्. स्टाइनगास ।

पाइअ-सद्दमहण्णवो—हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, कलकत्ता, १९२८ ई० ।

पाणिनीय-धातुपाठ-समीक्षा—डॉ० भा० प्र० त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६५ ई० ।

प्राकृतप्रकाशः—वररुचि, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

प्राचीन भारत में रसायन का विकास—डॉ० सत्यप्रकाश, सूचनाविभाग उत्तरप्रदेश १९६० ।

बुन्देलखण्ड की प्राचीनता—डॉ० भा० प्र० त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री', चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी; १९६५ ।

बृहत्संहिता—( भट्टोत्पलविवृतिसहित ) वराहमिहिर, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बृहज्जातक—वराहमिहिर।

ब्रह्मवैवर्तपुराणम्—श्रीजीवानन्दविद्यासागर, कलकत्ता १८८८ ई०।

भारत मित्र—७, ११, १९२५ ई०।

भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजयः—हरदत्त शास्त्री वेदालङ्कार, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।

भारोत्थापनयन्त्रनिर्माणविधिः—देवीसिंह महीपति, सारस्वती सुषमा, वर्ष १२, अङ्क २, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भावप्रकाश—भावमिश्र, क्षेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठी, मुम्बई, वि० संवत् १९७०।

भाषाविज्ञान पर भाषण—मैक्समूलर, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश।

भूवलयम्—आचार्य कुमुदेन्दु, प्रकाशनाधीन ( वेङ्कटेश्वरसमाचार ········ )।

मत्स्यपुराण—मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५४ ई०।

मनुस्मृति—( मन्वर्थमुक्तावली सहित ), गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, १९१३ ई०।

मराठीव्युत्पत्ति कोश—कृष्णा जी पाण्डुरङ्ग कुलकर्णी, गिरगांव मुम्बई–२, १९४६ ई०।

महाभारत—भारतभावदीपिका टीका, चित्रशाला मुद्रणालय, पूना १९३३ ई०।

महाभाष्यम्—प्रदीपोद्योतसहितम्, गुरुप्रसादशास्त्रिसंपादितम्।

महार्थमञ्जरी—महेश्वरानन्द, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७२ ई०।

माधवनिदान—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

मालतीमाधवम्—भवभूतिकृतम्, जगद्धरकृतटीकासहितम्, रामकृष्णगोपाल-भाण्डारकर-सम्पादितम्, बाम्बे, १९०५ ई०।

माध्यन्दिनसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१ ई०।

मृच्छकटिकम्—शूद्रक-रचितम्, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी १९५४ ई०।

मेदिनीकोश—मेदिनीकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

याज्ञवल्क्यस्मृति—( मिताक्षरा-सहिता ), निर्णयसागर प्रेस, बंबई।

योगदर्शन—पतञ्जलि, गीताप्रेस गोरखपुर।

रघुवंशमहाकाव्यम्—( मल्लिनाथविरचितटीकायुतम् ) वेङ्कटेश्वरमुद्रणालयः, १९६६ वि० संवत् ।

रागरत्नावली—नारदकृत, प्रकाशक—महाराज देवेन्द्रसिंह, टीकमगढ़ किला, टीकमगढ़ ( म० प्र० ), १९७५ ई० ।

रामचरितमानस—तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर ।

रामचरितमानस ( सुन्दरकाण्ड )—सम्पूर्ण संस्कृत श्लोकानुवादक—के० तिरुवेङ्कटाचार्य, बेंगलूर, १९५८ ई० ।

लिङ्गपुराणम्—( मनसुखराय मोर ) कलकत्ता ।

वायुपुराणम्—खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई ।

वाल्मीकीयं रामायणम्—( तिलकटीकासहितम् ), निर्णयसागर मुद्रणालय, १९०२ ई० ।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिद्वयम्—आचार्य वसुबन्धु, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७२ ई० ।

वैदिक इण्डेक्स—मैक्डानल और कीथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

वैद्यकरत्नमाला—

वैमानिकप्रकरण—यतिबोधानन्द वृत्तिसहित, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, १९५७ ई०

शतपथब्राह्मणम्—( सायणभाष्योपेतम् )—गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास, कल्याण, बम्बई ।

शृङ्गारसप्तशती—परमानन्द भट्ट ( वि० संवत् १९२५ ई० ) ।

शेक्सपियरनाटककथावली—मेडेपल्लि वेंकटरमणाचार्य, मद्रास, १९३३ ।

श्रीमद्भगवद्गीता—गीताप्रेस गोरखपुर ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्— ,, ,, ।

षड्भाषाचन्द्रिका—लक्ष्मीधर ।

सामवेदसंहिता—सातवलेकर सम्पादित ।

सिद्धान्तकौस्तुभः—जगन्नाथ सम्राट्,—चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी ।

सुश्रुतम्—(निबन्धसंग्रहव्याख्या-सहितम्), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३८ ई० ।

सेकशुभोदया—हलायुध मिश्र, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९६३ ई० ।

सौन्दर्यसप्तशती—डॉ० प्रेमनारायण द्विवेदी, पुर्व्यांऊ टौरी, सागर ( म० प्र० )।
स्कन्दपुराणम्—( मनसुख राय मोर संस्करण ), कलकत्ता ।
स्तोत्ररत्नावली—गीताप्रेस, गोरखपुर ।
हठयोगदीपिका—अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९७२ ई० ।
हयत—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१ ई० ।
हर्षचरित : एक अध्ययन—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

## उद्धृत ग्रन्थ नामावली

## उद्धृत ग्रन्थकारादि नामावली

# विशिष्ट शब्द-सूची

| हिन्दी, बुन्देली गुजराती, मराठी | पृष्ठ | चीनी | | | संस्कृत |
|---|---|---|---|---|---|
| अक्साई-चीन | ५८ | = अक्साई चीन | < अक्साय चीह्न | < | अक्षय्यचिह्न |
| अथाई ( बु० ) | ६२ | | < अत्थाणी | < अत्थाइया | < आस्थानी |
| अनुसरण करना | ७३ | = केन | | | < केण् (=गतौ) काशकृत्स्न- |
| आज्ञा पालन करना | ७५ | = फूत्स उङ् | < पूत्स आङ्ग | | < पृच्छाङ्ग |
| उठना | ७३ | = चइ-लाई | < चाइ-लाइ | | < [ उद् ] स्था + ति; लाति |
| करना | ७२ | = चो | < चु | < चृ | < डुकृञ् ( √ कृ ) |
| कहना | ७४ | = चिम्राङ् | < चिअङ् | < धि अञ्ज् | < [ अ ] धि + अञ्ज् (=व्यक्तौ) |
| कहना | ७३ | = काओ-सू | < काउ-सू | | < कवते ( कुङ्शब्दे ) + शंसु |
| काम करना | ७३ | = कुङ् चो | < कुङ् चु | | < कुङ् (शब्दे)–धु ( कम्पने ) |
| कारा कोरम | ६१ | = कारा कोरम | < काराकूरम | | < काल कूर्म |
| कालिम्पोङ् | ६१ | = कालिम्पोङ् | | | < कालिमपुङ्ख |
| कूदना | ७४ | = त इ आ उ | < थइ आयु | | < स्थिरायुः |
| कोथमीर ( बुन्देली ) | ८८ | | | | < कुस्तुम्बुरु, कुस्तुम्बुरी |
| कोथनी, कोथमीर ( गुज० ) | ८८ | | | | |
| कोंशिबीर ( मराठी ) | ८८ | | | | |
| खड़ा होना | ७२ | = चान | | | < स्थान |
| खँगूर ( भील ) | ६१ | = | < खमागुर | | < क्षमाङ्गुलि |
| खाना | ७२ | = ची | < चइ | | < चमति |
| खिजमेन | ६१ | = खिजमेन | | | < खञ्जमणि |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| खींचना | ७५ | = ला | | | < ला ( आदाने ) | |
| खुरनाक | ६१ | = खुरनाक | | | < खुरनाग | |
| खेम्पा, गेम्पा | ५८ | = खिम्पो | < खिम्पो | < किम्पो | < किम्पुरुष | |
| खोलना | ७३ | = काइ | < गा–इ | < घाति | < उद्घाटयति | |
| गरोश | ६३ | = कुभ्रान्-शी-तियेन | < णे, शी < तियेन | < श, कुभ्रान् | < ग् भ्र | < गणेश |
| गलबान | ६१ | = | < गलफान | | < गरपान | |
| गिर् | ६४ | = | | | < √ गॄ | |
| घंटो ( बुन्देली ) = लुटिया | ६२ | = < गड़ई | < घड़ई | < घ ट् ई | < घटी | |
| चढ़ना | ७३ | = च ए ङ् | < च इ ङ् | < च्युङ् | < ( च्युङ् = गतौ ) | |
| चांग चेन्मो | ६१ | = चांग चेन्मो | | | < साङ्ग चिन्मयु | |
| चाहना | ७३ | = आई | < भ्राइ | < आती | < आकाङ्क्षति | |
| चित्सुङ् लुन्तसान | ५६ | = चित्सुङ् लुन्तसान | | | < चित्सुख लून तक्षण | |
| चिपचेप | ६१ | = चिपचेप | < सिपसेप | | < क्षिप्रस्तेप | |
| चुसूल ( क्षेत्र ) | ६१ | | | | < चतुश्शूल | |
| छीर ( बुन्देली ) | ८६ | | | | < सीर | |
| जण्ण् (पं०), जञ् ( सिन्धी ) | १०२ | | | | < जन्य | |
| जनवासा | १०३ | | | | < जन्यावासः | |
| जबाब देना | ७४ | = ताफू | < ताफून | | < तत्पुनः | |
| जबारे ( बुन्दे० ) | ६० | = | | | < यवाङ्कुर | |
| जांच करना | ७५ | = तिएन तिएन | < थिएन थिएन | | < स्थितेन स्थितेन | |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| जानना | ७४ = चिहताम्रो | < चिह-थाम्रो | | < कि ( =ज्ञाने )-स्थायु |
| जीतना | ७५ = यिन | | | < जिन |
| जोड़ना | ७४ = चिम्रा | < चिना ( ति ) | | < चि ( =चयने )-चिनोति |
| जोत | ८५ | | | < योक्त्र |
| झाड़ना | ७५ = तान इ तान | < तानि तानि | | < मार्ष्टानि मार्ष्टानि |
| झूठ बोलना | ७५ = साहू म्राङ् | < साहू म्रम्रङ् | | < साधु-अनङ्ग |
| टहलना | ७४ = चोऊ लू | < चा उ ऊ लू | | < धावु-लू ( ञ् ) [ =छेदने ] |
| टोंका ( बुन्देली ) | ८५ | | | < तोकम् |
| ट्वाका ( बनपरी ) | ८५ | | | |
| ठहरना | ७४ = चू | < छू | < छा-ऊ | < स्थातु |
| डंडी = चुगलखोर | ९० = < डिण्डी | | | |
| ढँकना | ७३ = काइ शाङ् | < घाइशान | | < उद्घाटयति-शान ( शो तनूकरणे ) |
| तक्त सांग गैम्पा | ६१ = तक्त सांग | | | < त्यक्त-साङ्ग-किम्पु ( रुष ) |
| तावाङ् | ६१ = तावाङ् | | | < तवाङ्ग |
| तिब्बत | ५८ = | | | < त्रिविष्टिप |
| तु न जूनला | ६१ = तुन जुनला | | | < तनुज ऊर्णल |
| तेऊँन ( जैन बुन्देली ) | ६५ | | | < तेमन |
| तैयारी करना | ७५ = यू पी | | | < युक्त प्रीति |
| तोखारिस्तान | ६२ = | | | < तोषारस्थान |
| त्सरुवाणी | ६२ = त्सू म्रान ई | | | < त्सरु वाणी |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| थागला | ६२ | | < थांगळा | | < तङ्गणाः |
| दुहना | १०१ = | | दोश ( जिप्सी ) | | < अधस्, दूस |
| देखना | ७२ | = क श्रान | < ख श्रन | < ईक्ष + श्रा | < ईक्षमाण |
| देखना | ७३ | = क आन-चिएन | < क श्रान-चिश्रन | | < ईक्ष + श्रान + चित्रण |
| देना | ७२ | = के | < की | < कीण | < कीण |
| दौड़ना | ७२ | = चाउ, चोऊ | | < चावु | < धावु |
| ध्यान | ७२ | = चान | | जेन (जापानी) | < ध्यान |
| नागा | ६० | = | | | < नागः |
| नाचना | ७४ | = तइ आऊ वू | | < घइ श्राऊभू | < स्थिरायुः भू |
| निकल जाना | ७३ | = चउ–क्यु | < चऊ–च्यु | | < चुत् ( इर् )–च्युत्( इर् ) [ =क्षरणे ] |
| नेफा | ६० | = नेफा | < नीफा | | < नीपः |
| पढ़ना | ७२ | = तू | | | < ष्टुञ् √ स्तु |
| पढ़ना | ७३ | = क श्रान-शू | < क श्रान–शू | < ख श्रान स शु | < ईक्ष + श्रान + शंसु |
| परिचय देना | ७३ | = चइआ–सोउ | | | < ( परि ) चि + श्रः [ ज ] सु ( मोक्षणे ) |
| पलाङ् | ६१ | = पलाङ् | | < व्लांग या व्लंग | < वालाङ्ग |
| पहुँचना | ७४ | = ताऊ | | < तायु | < प्राप्तायुः |
| पिकिङ्ग | ५८ | = पिकिङ्ग | | < किपिङ्ग | < एकपिङ्ग |
| पीकिङ्ग | ५८ | = पीकिङ्ग | | < पिकङ्ग | < पिकाङ्ग |
| पीना | ७२ | = ह | | < हा | < धेट् ( √ धा ) |

पैगांग ६१ = पैगांग < पिङ्गाङ्ग

पौलबौ ( बु० ) ८६ < पूल < √पल्पूल्

प्रवेश करना ७४ = चिन लाई < < चिह्नं लाति

बच निकलना ७४ = त आऊ चोउ < त आ–यु–चोउ < ताय् [ = पालने ]–धातु

बढ़ना ७५ = शेन चाङ् < शेन चाग < शीन—त्याग

बन्द करना ७३ = कुम्रान < कुम्रन < क्वण ( = शब्दे )

बाड़ा लगाना ७५ = बू चिम्रान < बू–चिम्रन < भू–चयन ( चि + अन )

बिरामनी ( बुन्देली ) ८७ = बंभणी (प्राकृत) < ब्राह्मणी

वेझड़ १३ = < वेढिम ( प्रा० ) < वेढमिका

बैठना ७४ = चो < चउ < श ऊ < उश < उपविश

बैठना ७३ = चो < छू < छा–ऊ < स्था—तु

बोलना ७२ = शो < शु < शस् + उ < शंसु ( शंस् ) स्तुतौ

भान्सा ( नेपाली ) १०३ < महानसम्

भीख माँगना ७३ = च इ उ < च य उ < चयतु < चयातु < याच + तु

भूटान ६१ < भूतायन

भेंट करना ७५ = यू चियन < यू चिम्रन < युक्त-चयन ( चि + अन )

भोट ६० = भोट < भोत < भूत:

भौम्रा ( जैन बुन्देली ) ६५ < भाम:

मछली मारना ७५ = ति आऊ यू < त्यौ ऊ < मत्स्यी ऊतौ

माणा ५९ = माला < माळा < माला

मिगीटुन ६१ < मिगीतुन < मृगीतनु

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| मिङ्ती | ६३ = मिङ्ती | | | < मेङ्+ ( तिप् ) |
| मैदा | १२ | | <सेमिदालिस्(यूनानी) | < समिता |
| मोम्पा ( जाति ) | ६१ = मोम्पा | | < मोपा | < मयुप |
| यातुङ् | ६१ = यातूङ् | | | < यात्वङ्ग |
| याद रखना | ७४ = चीतेह | < चू | < चीतिह | < चिन्तिः |
| रखना | ७३ = को चाई | | < को–छाई | < कौ + स्था + ति |
| रखना | ७५ = फाङ् | | < फान | < प्राण |
| रसोईं | १०३ | | | < रसवती |
| रहना | ७२ = च ऊ | < चव | < सव | < वस ( = निवासे ) |
| राय देना, सूचना देना | ७४ = चउङ् चिह | | < चउङ्ग—किह | < तुङ्ग–कि ( = ज्ञाने ) |
| रुकना | ७४ = चइङ् | | < थ इ ङ्ग | < स्थिराङ्ग |
| रूस | ७० < रुवर्ष | | | < कुरुवर्ष |
| लड़ना | ७४ = ताजिआ, ताचिआ | | | < तर्जितः |
| लद्दाख | ५६ = लद्दाख | | < लुद्दाख | < रुद्राक्ष |
| लपथाल | ६१ = रुपथाल | | | < रूपस्थल |
| लाङ् जू | ६१ = लाङ् जू | | < लौंग जौ | < लवङ्ग जव |
| लाना | ७५ = ना लाई | | < नाति—नाइ | < गृह्लाति लाति |
| लामा | ५६ = लामा ( तिब्बती ) | | | < माला |
| लिखना | ७३ = सिए | < सीए | < सीते | < सीव्यते |
| ले जाना | ७४ = ताई | | < तइ | < तरिः |
| लेट जाना | ७४ = तआङ्-शिआ | | | < समस्ताङ्ग-शी + अः (शयः) |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| लेना | ७२ | = ना | | < णा | < गृह्णाति |
| लौट आना | ७५ | = हुई लाई | | < हुई-लाइ | < भूयः लाति |
| ल्हासा | ६१ | | | < ल्हासः | < ह्लासः |
| वर्णन करना | ७५ | = सू | | < सु | < शंसु ( = स्तुतौ ) |
| वाक् | ६४ | | | < वाक् | < √ वच् |
| वाणी | ६४ | | | < वाणी | < √ वण् |
| वेढमिका | १३ | | | < वेढिम (प्राकृत) | < वेष्टमिका |
| वेनचङ्ग | ५६ | = वेनचङ्ग | | | < वेणुसङ्ग |
| शादी करना | ७५ | = चिएहून | | | < चयन ( चि + अन ) हवन ( हू + अन ) |
| शादी करना | ७५ | = चिएहून | | < चिय घून | < चितेः घूर्णं |
| शिकार करना | ७५ | = तालिए | | < था लिए | < स्थाल्यै |
| शिपकी | ६१ | = शिपकी | | | < शिवकी ( शिपिविष्टकी ) |
| शुरू करना | ७३ | = काइ–शिह् | | < घाइ–सिहू | < उद्घाटयति–अस्ति भू |
| सफल होना | ७४ | = चएङ् कुङ् | | | < च्युङ् कुङ् ( = शब्दे ) |
| समझना | ७३ | = काइशो | | < घाइ–शू | < उद्घाटयति–शंसु |
| सवासन, सवासा | ६३, ६४ | | | | < सुवासिनी |
| सही | ८३ | | < साही | < साहीय | < साधीयः |
| सांगचा–मल्ल | ६१ | = सांगचा-मल्ल | | < सांगज-मल्ल | < सांख्य-मल्ल |
| साव | ८३ | | | < साहु | < साधु |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सिक्किम | ६१ | = | सिक्किम | | | | | < | शिक्यम् |
| सिखाना | ७२ | = | चिखाबो | < | चिखापो | < | चिखापु | < | शिक्षापयति |
| सिगरेट पीना | ७४ | = | च ओऊ-यान | < | चओउप्पान | < | ध् ओम पान | < | धूम पान |
| सियाङ् | ६१ | = | सिवाङ्ग | < | शिवाङ्ग | < | सिकियाङ्ग | < | शिक्याङ्ग |
| सिलीगुड़ी | ६१ | | | | | | | < | शिलीगुर्वी |
| सीखना | ७२ | = | सुइ, सुए | | | | | < | सु ( शिक्ष ) |
| सुवनसिरी | ६१ | = | सुवनसिरी | | | | | < | सुवर्णश्री |
| सूथियेन | ५८ | = | सूथियेन | | | | | < | सुतीक्ष्ण |
| सोचना | ७५ | = | सिआङ् | | | | | < | चिन्ताङ्ग |
| स्पांगुर | ६१ | = | स्पांगुर | < | स्फांगुर | | | < | शिवाङ्गुलि |
| स्रोङ् वचन | ५६ | = | स्रोङ् वचन | | | | | < | श्रवण–वचन |
| स्रोत्साङ्ग गेम्पो | ५६ | = | स्रोत्साङ्ग गेम्पो | | | | | < | श्रान्तिसङ्ग-किम्पुरुष |
| स्वागत करना | ७५ | = | हुआन | < | शेन चाग | < | शेत चाग | < | शीन–त्याग |
| हरहती | ५३ | = | हरहती | | | < | हरस्वती | < | सरस्वती |
| हांकना | ७४ | = | चिआशी | | | < | शिआशी | < | क्षिप्राशी |
| हैं, है, हूं | ७३ | = | शिह | < | सिहू | < | असि भू | < | अस्ति–भू |

